मिट्टी के दीये
(आचार्य श्री रजनीश के प्रवचनों से संकलित बोध कथायें)

अनुक्रम

1. सागर का संगीत..4
2. जीवन से बड़ी कोई संपदा नहीं है...4
3. त्याग का भी त्याग...6
4. धार्मिक चित्त क्या है?..8
5. धर्म मूलतः अभय में प्रतिष्ठा का मार्ग है.................................9
6. मनुष्य जैसा होता है वैसा ही उसका धर्म होता है.......................11
7. साहस...12
8. महत्वाकांक्षा का मूल: हीनता का भाव...13
9. जागो और जीओ!..15 10...प्रेम जहां है वहां परमात्मा है
.... 16
11..ठहरो और रुको और स्वयं में देखो
.... 17
12..धर्म स्वयं की श्वास-श्वास में है
.... 18
13..............क्या स्वयं जैसे होने का साहस और प्रौढ़ता आपके भीतर है?
.... 20
14..धर्म में विज्ञापन की क्या आवश्यकता?
.... 21
15..."मैं" एक असत्य है
.... 23
16...धर्म विश्वास नहीं, विवेक है
.... 25
17...........................आंखें होते हुए भी क्या हम अंधे नहीं हो गए हैं?
.... 26
18...प्रेम और प्रज्ञा
.... 27
19................शास्त्रों से पाए हुए ज्ञान का यहां कोई मूल्य नहीं है
.... 28
20...सावधान और सचेत
.... 28
21..परमात्मा का छोड़ो, प्रेम को पाओ
.... 29

22..कुछ होने की महत्वाकांक्षा ही मन है 31

23...अहंकार के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं 32

24...जहां चित्त ठहरता है, वहीं शांति है 33

25...चित्त का त्याग कैसे संभव है? 34

26..जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है 36

27...जीवन में कहीं पहुंचने का राज 37

28....................................जिनका स्वयं पर राज्य है, वे ही सम्राट हैं 38

29..धर्म के प्रति उपेक्षा 39

30...समस्या और समाधान 40

31...जन्म में ही मृत्यु छिपी है 41

32.............................जो छोड़ने का निश्चय करता है, वह कभी नहीं छोड़ता 42

33....जीवन ही जिसका प्रेम नहीं है, उस जीवन में प्रार्थना असंभव है 42

34...स्वयं का स्वीकार 43

35....................क्या हम स्वयं को ही अन्यों में नहीं झांक लेते हैं? 45

36.............जीवन का सत्य प्रतिध्वनियों में नहीं, वरन स्वयं में ही अंतर्निहित है...46

37................................मित्र और शत्रु--सब स्वयं की ही परछाइयां हैं 46

38...स्वयं की वास्तविक सत्ता की खोज 48

39.................................तुम्हारे हाथ भी क्या मेरे ही हाथ नहीं हैं? 50

40...............विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है 51

41...............................सत्य है बहुत आंतरिक--आत्यंतिक रूप से आंतरिक 52

2

42.."अहंकार" समस्त हिंसा का मूल है 53

43...अज्ञान मुखर है और ज्ञान मौन 54

44.........................धर्म मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार है 55

45..धर्म जीवन में हो, तभी जीवित बनता है 56

46...जीवन क्या है? 56

47..............................वह वहीं है और वही है, जहां सदा से है और जो है! 57

48...वस्त्र धोखा दे सकते हैं 58

49..स्वतंत्रता से व्यक्ति सम्राट होता है 60

50...स्वयं का विवेक 62

51..जीवन और मृत्यु भिन्न-भिन्न नहीं हैं 62

52..धर्म भेद नहीं, अभेद है 63

53...........................धर्म को किसी भी भांति खरीदा ही नहीं जा सकता है 65

54...सत्य की खोज में पहला सत्य क्या है? 66

55............मृत्यु क्या है? क्या वह जीवन की ही परिपूर्णता नहीं है? 67

56...आनंद कहां है? 68

57...मृत्यु में ऐसा क्या भय है? 70

58...अहंकार जीवन में दीवारें बनाता है 71

59..प्रार्थना मांग नहीं है 72

60...अहंकार का भार 74

3

(**NOTE:**--Year 2016 edition has changed sequence of 60 stories as given here. Previous edition has 59 stories--by mistake two stories were joined as one. **Story No.-1 is still No.-1.** Because it is most important, significant, symbolic and indicating towards the spiritual mystery of Godliness, called by different mystics by different names like -- Divine Melody / Hidden Harmony / Hari Om Tatsat / Sound of one hand clapping / The Silent Music / The True Name / The Secret of the Secrets / Om Mani Padme Hum / The First Principle / Om Mani Padme Hum / Ek Omkar Satnam / Om Shanti Shanti Shanti; etc.)

सागर का संगीत

एक कथा मैंने सुनी थी। हजारों वर्ष पूर्व परमात्मा के मंदिरों का एक नगर सागर में डूब गया था। उस सागर में डूबे उन मंदिरों की घंटियां आज भी बजती रहती हैं। शायद पानी के धक्के उन्हें बजा देते होंगे, या यहां-वहां भागती मछलियों से टकरा कर वे बजती रहती होंगी। जो भी हो, घंटियां आज भी बजती हैं। और आज भी उनके मधुर संगीत को उस सागर के तट पर जाकर सुना जा सकता है।
मैं भी उस संगीत को सुनना चाहता था। मैं उस सागर की खोज में गया। बहुत वर्षों की भटकन के बाद अंततः उस सागर-तट पर पहुंच ही गया। किंतु यह क्या, वहां तो सागर का तुमुलनाद गूंज रहा था--लहरों के थपेडे चट्टानों से टकरा कर उस एकांत में अनंत गुना हो प्रतिध्वनित हो रहे थे। न तो वहां कोई संगीत था, न किन्हीं मंदिरों की बजती कोई घंटियां थीं। मैं तट पर कान लगा कर सुनता था, लेकिन वहां तो तट पर टूटती लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी न था।
फिर भी मैं रुका रहा। वस्तुतः लौटने का मार्ग ही मैं भूल गया था। अब
तो वह अपरिचित निर्जन सागर-तट ही मेरी समाधि बनने को था।
फिर धीरे-धीरे सागर में डूबे मंदिरों की घंटियां सुनने का ख्याल भी मुझे भूल गया। मैं उस सागर के किनारे ही बस गया था।
फिर एक रात्रि अचानक मैंने पाया कि डूबे मंदिरों की घंटियां बज रही हैं और उनका मधुर संगीत मेरे प्राणों को आंदोलित कर रहा है।
मैं उस संगीत को सुनकर जाग गया और फिर तब से सो नहीं सका। अब तो भीतर कोई निरंतर ही जागा हुआ है। निद्रा सदा को ही चली गई है।
और जीवन आलोक से भर गया है, क्योंकि जहां निद्रा नहीं है, वहां अंधकार नहीं है।
और मैं आनंद में हूं...नहीं, नहीं...मैं आनंद ही हो गया हूं, क्योंकि जहां परमात्मा के मंदिर का संगीत है, वहां दुख कहां?
क्या तुम भी उस सागर के किनारे चलना चाहते हो? क्या तुम्हें भी परमात्मा के डूबे मंदिर का संगीत सुनना है?
तो चलो। स्वयं के भीतर चलो। स्वयं का हृदय ही वह सागर है और उसकी गहराइयों में ही परमात्मा के डूबे हुए मंदिरों का नगर है।
लेकिन उसके मंदिरों का संगीत सुनने में केवल वे ही समर्थ होते हैं, जो
सब भांति शांत और शून्य हों।
विचार और वासना का कोलाहल जहां है, वहां उसका संगीत कैसे सुन पडेगा? उसे पाने की वासना तक भी उसे पाने में बाधा बन जाती है।

जीवन से बड़ी कोई संपदा नहीं है

एक अंधेरी रात्रि में मैं आकाश के तारों को देख रहा था। सारा नगर सोया हुआ था। उन सोए हुए लोगों पर मुझे बहुत दया आ रही थी। वे बेचारे दिनभर की अधूरी वासनाओं के पूर्ण होने के स्वप्न ही देख रहे होंगे। स्वप्न में ही वे जागते हैं, और स्वप्न में ही सोते हैं। न वे सूर्य को देखते हैं, न चांद को, न तारों को। वस्तुतः जो आंखें स्वप्न देखती हैं, वे आंखें उसे नहीं देख पाती हैं। सत्य को देखने के लिए आंखों से स्वप्नों की धूल हट जाना अत्यंत आवश्यक है।
रात्रि जैसे-जैसे गहरी होती जाती थी, वैसे-वैसे आकाश में तारे ब.ढते जाते थे। धीरे-धीरे तो पूरा आकाश ही उनसे जगमग हो उठा था। और आकाश ही नहीं, उनके मौन सौंदर्य से मैं भी भर गया था। आकाश के तारों को देखते-देखते क्या आत्मा का आकाश भी तारों से ही नहीं भर जाता है? वस्तुतः मनुष्य जो देखता है, उसी से भर जाता है। क्षुद्र को देखने वाला क्षुद्र से भर जाता है, विराट को देखने वाला विराट से। आंखें आत्मा के द्वार हैं।

मैं एक वृक्ष से टिका आकाश में खोया ही था कि तभी किसी ने पीछे से आकर मेरे कंधे पर अपना ठंडा और मुर्दा हाथ रख दिया। उसकी पग-ध्वनियां भी मुझे सुनाई प.डी थीं। वे ऐसी नहीं थीं, जैसी किसी जीवित व्यक्ति की होनी चाहिए, और उसका हाथ तो इतना निर्जीव था कि अंधेरे में भी उसकी आंखों में भरे भावों को समझने में मुझे देर नहीं लगी। उसके शरीर का स्पर्श उसके मन की हवाओं को भी मुझ तक ले आया था। वह व्यक्ति तो जीवित था और युवा था, लेकिन जीवन कभी का उससे विदा ले चुका था, और यौवन तो संभवतः उसके मार्ग पर अभी आया ही नहीं था।
हम दोनों तारों के नीचे बैठ गए थे। उसके मुर्दा हाथों को मैंने अपने हाथों में ले लिया था, ताकि वे थोडे गर्म हो सकें, और मेरी जीवन-ऊष्मा भी उनमें प्रवाहित हो सके। संभवतः वह अकेला था और प्रेम उसे जिला सकता था। निश्चय ही ऐसे समय बोलना तो उचित नहीं था और इसलिए मैं चुप ही रहा।
हृदय मौन में ही कहीं ज्यादा निकटता पाता है। और शब्द जिन घावों को नहीं भर सकते, मौन उन्हें भी स्वस्थ करता है। शब्द और ध्वनियां तो पूर्ण संगीत में विघ्न और बाधाएं ही हैं।
रात्रि मौन थी, और मौन हो गई। उस शून्य संगीत ने हम दोनों को घेर लिया।
वह अब मुझे अपरिचित नहीं था। उसमें भी मैं ही था। फिर उसकी पाषाण-जैसी जडता टूटी और उसके आंसुओं ने खबर दी कि वह पिघल रहा है। वह रो रहा था और उसका सारा शरीर कंपित हो रहा था। उसके हृदय में जो हो रहा था, उसकी तरंगें उसके शरीर तंतुओं तक आ रही थीं। वह रोता रहा...रोता रहा...रोता रहा और फिर बोलाः "मैं मरना चाहता हूं। मैं अत्यंत निर्धन और निराश हूं। मेरे पास कुछ भी तो नहीं है।"
मैं थोडी देर और चुप रहा और फिर धीरे-धीरे मैंने उससे एक कहानी कही। मैंने कहाः मित्र! मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक फकीर से किसी युवक ने जाकर कहा थाः "परमात्मा ने सब कुछ मुझसे छीन लिया है। मृत्यु के अतिरिक्त मेरे लिए अब कोई मार्ग नहीं है।"
क्या वह युवक तुम ही तो नहीं हो?
उस फकीर ने युवक से कहा थाः "मैं तो तेरे पास छिपा हुआ एक बडा खजाना देख रहा हूं? क्या उसे बेचेगा? उसे बेच दे तो तेरा सब काम बन जाए और परमात्मा की बदनामी भी बचे?"
तुम वह युवक हो या नहीं, पता नहीं। लेकिन फकीर मैं वही हूं और लगता है
कि कहानी फिर से दुहर रही है।
वह युवक हैरान हुआ था और शायद तुम भी हैरान हो रहे हो। उसने पूछा थाः "खजाना? मेरे पास तो फूटी कौडी भी नहीं है!"
इस पर फकीर हंसने लगा था और बोला थाः "चलो, मेरे साथ बादशाह के पास चलो। बादशाह बडा समझदार है। छिपे खजानों पर उसकी सदा से ही गहरी नजर रही है। वह जरूर ही तुम्हारा खजाना खरीद लेगा। मैं पहले भी बहुत से छिपे खजानों के बेचने वालों को उसके पास ले गया हूं!"
वह युवक कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। उसके लिए तो फकीर की सारी बातचीत
ही पहेली थी। लेकिन फिर भी वह उसके साथ बादशाह के महल की ओर चला। मार्ग में फकीर ने उससे कहाः "कुछ बातें पहले से तय कर लेना आवश्यक है, ताकि बादशाह के सामने कोई झंझट न हो। वह बादशाह ऐसा है कि जो चीज उसे पसंद हो, उसे फिर किसी भी मूल्य पर छोडता नहीं है। इसीलिए यह भी जान लेना जरूरी है कि तुम उस चीज को बेचने को राजी भी हो या नहीं?"
वह युवक बोलाः "कौन सा खजाना? कौन सी चीजें?"
फकीर ने कहाः "जैसे, तुम्हारी आंखें। इनका क्या मूल्य लोगे? मैं 50 हजार तक बादशाह से दिला सकता हूं। क्या यह रकम पर्याप्त नहीं है? या जैसे तुम्हारा हृदय या मस्तिष्क, इनके तो एक-एक लाख भी मिल सकते हैं!
वह युवक हैरान हुआ और अब समझा कि फकीर पागल है। बोलाः "क्या आप पागल हो
गए हैं? आंखें? हृदय? मस्तिष्क? आप यह कह क्या रहे हैं? मैं इन्हें तो किसी भी मूल्य पर नहीं बेच सकता। और मैं ही क्यों, कोई भी नहीं बेच सकता है।"
फकीर हंसने लगा और बोलाः "मैं पागल हूं या तू? जब तेरे पास इतनी बहुमूल्य चीजें हैं, जिन्हें तू लाखों में भी नहीं बेच सकता, तो झूठ-मूठ

निर्धन क्यों बना हुआ है? इनका उपयोग कर। जो खजाना उपयोग में नहीं आता, वह भरा हुआ भी खाली है, और जो उपयोग में आता है, वह खाली भी हो तो भर जाता है। परमात्मा खजाने देता है--अकूत खजाने देता है, लेकिन उन्हें खोजना और खोदना स्वयं ही पडता है। जीवन से बडी कोई संपदा नहीं है। जो उसमें ही संपदा नहीं देखता, वह संपदा को और कहां पा सकता है?"
रात्रि आधी से ज्यादा बीत गई थी। मैं उठा और मैंने उस युवक से कहाः "जाओ और सो जाओ। सुबह एक दूसरे ही व्यक्ति की भांति उठो। जीवन वैसा ही है, जैसा हम उसे बनाते हैं। वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है। उसे हम मृत्यु भी बना सकते हैं, और अमृत भी। सब कुछ स्वयं के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर नहीं है। फिर मृत्यु तो अपने-आप आ जाएगी। उसे बुलावा देने की आवश्यकता नहीं है। बुलाओ अमृत को। पुकारो परम-जीवन को। वह तो श्रम से, शक्ति से, संकल्प से और साधना से ही मिल सकता है।"

त्याग का भी त्याग

एक सम्राट की बहुत कीर्ति थी। उसके दान के सुसमाचार चारों दिशाओं में परिव्याप्त हो गए थे। उसकी विनम्रता, उसके त्याग, उसकी सादगी, उसकी सरलता, सभी की प्रशंसा लोगों के मंुह पर थी; और परिणाम यह था कि उसके अहंकार का अंत नहीं था। परमात्मा से जितनी दूरी पर कोई मनुष्य हो सकता है, उतनी ही दूरी पर वह था। मनुष्य की दृष्टि में ऊपर उठना कितना आसान है, किंतु परमात्मा के निकट पहुंचना कितना कठिन है! जो मनुष्यों की दृष्टि में ऊपर उठने का आकांक्षी होता है, वह तो अनिवार्यतः परमात्मा की दृष्टि में नीचे गिर जाता है, क्योंकि जो उसके बाहर दीखता है, ठीक उसके विपरीत ही वह अंतस में होता है। मनुष्य के चर्मचक्षु वहां तक प्रवेश नहीं कर पाते हैं, इससे ही वह आत्मवंचना में पड जाता है। लेकिन क्या उसकी स्वयं की अंतर्दृष्टि भी वहां तक नहीं पहुंचती है? अंततः मनुष्यों की आंखों में बनने वाली प्रतिच्छवि का कोई भी मूल्य नहीं है। मूल्य तो है उसी प्रतिच्छवि का जो स्वयं की अंतर्दृष्टि के समक्ष अनावरित होती है। व्यक्ति की वही मूर्ति और भी निम्नतर रूपों में परमात्मा के दर्पण में प्रतिबिंबित होती है। आत्यंतिक रूप से व्यक्ति जो स्वयं के समक्ष है, वही वह परमात्मा के समक्ष भी है।
उस सम्राट का यश ब.ढता गया और आत्मा डूबती गई। कीर्ति फैलती गई और आत्मा सिकुडती गई। उसकी शाखाएं फैल रही थीं और जडें निर्बल हो रही थीं। उसका एक मित्र भी था। वह मित्र उस समय का कुबेर ही था। दूर-दूर से जैसे नदी-नाले सागर से आ मिलते हैं, वैसे ही धन की सरिताएं उसकी तिजोरियों में आ गिरती थीं। वह अपने सम्राट मित्र से बिल्कुल ही विपरीत था। दान के नाम पर एक कानीकौडी भी उससे नहीं छूटती थी। उसकी बडी अपकीर्ति थी।
सम्राट और धनपति, दोनों बू.ढे हुए। एक अभिमान से भरा था, दूसरा आत्मग्लानि से। अभिमान सुख दे रहा था, आत्मग्लानि प्राणों को छेदे डालती थी। जैसे-जैसे सम्राट को मृत्यु निकट जान पडती थी, वह अपने अहंकार को और तीव्रता से पकड रहा था। उसके पास तो सहारा था। लेकिन धनपति की आत्मग्लानि अंततः आत्मक्रांति बन गई। वह तो सहारा नहीं थी। उसे तो छोडना जरूरी था। लेकिन स्मरण रहे कि आत्मग्लानि भी अहंकार का ही उल्टा रूप है, और इसीलिए वह भी छूटती कठिनाई से ही है। अक्सर तो वह सीधी होकर स्वयं ही अहंकार बन जाती है। इसी कारण भोगी योगी हो जाते हैं और लोभी दानी, क्रूर करुणावान। लेकिन बुनियादी रूप से उनकी आत्माओं में कोई क्रांति कभी नहीं होती है। वह धनपति एक सदगुरु के पास गया। उसने वहां जाकर कहाः "मैं अशांत हूं। मैं अग्नि में जल रहा हूं। मुझे शांति चाहिए।"
सदगुरु ने पूछाः "क्या इतना धन, वैभव, शक्ति-सामथ्र्य होने पर भी तुम्हें शांति नहीं मिली?"
उसने कहाः "नहीं। मैंने भलीभांति अनुभव कर लिया, धन में शांति नहीं है।"

सदगुरु ने तब कहाः "जाओ और अपना सर्वस्व उन्हें लुटा दो, जिनसे वह छीना गया है। फिर मेरे पास आओ। दीन और दरिद्र होकर आओ।"
धनपति ने वैसा ही किया। वह लौटा तो सदगुरु ने पूछाः "अब?"
उसने कहाः "अब आपके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं है।"
लेकिन बडा अदभुत था वह सदगुरु। कहें कि पागल ही था। उसने धक्के देकर
उस दरिद्र धनपति को झोपडे के बाहर निकाल दिया और द्वार बंद कर लिए। अंधेरी रात्रि थी और बियावान जंगल था। उस जंगल में उस झोपडे के अतिरिक्त कोई आश्रय भी नहीं था।
धनपति ने सोचा था कि वह बहुत बडा कार्य करके लौट रहा है। लेकिन यह कैसा स्वागत--यह कैसा व्यवहार?
धन का संग्रह व्यर्थ पाया था। लेकिन धन का त्याग भी व्यर्थ ही हो गया था।
वह उस रात्रि निराश्रय एक वृक्ष के नीचे सो रहा। उसका अब कोई न सहारा
था, न साथी, न घर। न उसके पास संपदा थी, न शक्ति थी। न संग्रह था, न त्याग था।
सुबह जाग कर उसने पाया कि वह एक अनिर्वचनीय शांति में डूबा हुआ है।
निराश्रय चित्त अनायास ही परमात्मा के आश्रय को पा लेता है।
वह भागा हुआ सदगुरु के चरणों में गिरने को गया, लेकिन देखा कि स्वयं सदगुरु ही उसके चरणों में गिर पडा है।
उस सदगुरु ने उसे हृदय से लगाया और कहा--"धन छोडना आसान है, त्याग छोडना कठिन है। किंतु जो त्याग का त्याग करता है, वही वस्तुतः धन भी छोडता है। संसार छोडना सरल है, पर गुरु छोडना कठिन है। लेकिन जो गुरु को भी छोड देता है, वही परमगुरु को पाता है। धन का हो आश्रय या त्याग का, आत्मग्लानि का हो आश्रय या अभिमान का, संसार का हो आश्रय या संन्यास का, वस्तुतः जहां आश्रय है, वहीं परमात्मा तक पहुंचने में अवरोध है। अन्याश्रय टूटते ही परम आश्रय उपलब्ध होता है। मैं धन में आश्रय खोजूं या धर्म में, जब तक मैं आश्रय खोजता हूं, तब तक मैं अहंकार की रक्षा ही खोजता हूं। आश्रय मात्र छोडते ही, निराश्रय और असुरक्षित होते ही, चित्त स्वयं की मूल सत्ता में निमज्जित हो ही जाता है। यही है शांति। यही है मोक्ष। यही है निर्वाण। क्या तुम्हें कुछ और भी पाना है?"
वह व्यक्ति, जो न अब धनपति था, न दरिद्र था, बोलाः "नहीं। पाने के ख्याल में ही भूल थी। उसके कारण ही खोया था। जो पाना है, वह पाया ही हुआ है। पाने की दौड में यही नित्य-प्राप्त खो गया था। शांति भी अब मुझे नहीं चाहिए। परमात्मा भी नहीं। मैं ही अब नहीं हूं और जो है वही शांति है, वही परमात्मा है, वही मोक्ष है।"

धार्मिक चित्त क्या है?

मैं वृद्धों के एक मंडल में बैठा था। वे सभी अवकाश-प्राप्त व्यक्ति हैं और लोक-परलोक की एक से एक व्यर्थ चर्चा में संलग्न रहते हैं। वैसे वे कहते इसे धर्म-चर्चा ही हैं, और यह ठीक भी है। क्योंकि जिन्हें धर्मशास्त्र कहा जाता है, उनमें भी ऐसे ही ऊहापोह की भरमार है। कई बार विचार आता है कि इन तथाकथित धर्मशास्त्रों को कहीं अवकाश-प्राप्त वृद्धों ने ही तो नहीं सिरजा है!
धर्म यदि कुछ है तो स्वयं जीवन है, व्यर्थ के ऊहापोह से उसका क्या संबंध?
लेकिन, शास्त्र तो बस शब्दों से भरे हैं। और धार्मिक कहे जाने वाले मस्तिष्क आकाशों की स्वप्न-यात्रा करते रहते हैं। शास्त्र और सिद्धांत उनके चित्त में धर्म के प्रवेश के लिए द्वार ही नहीं देते हैं।
धार्मिक चित्त क्या है?
मैं तो सब भांति शब्दों, सिद्धांतों और विचारों से शून्य चेतना को ही धार्मिक कहता हूं।

धार्मिक चित्त, काल्पनिक चित्त नहीं है। अपितु, उससे ज्यादा यथार्थवादी और सत्य की ठोस भूमि पर खडी हुई और कोई चेतना ही नहीं होती है। मैं वृद्धों के विवाद को बडे आनंद से सुनता था कि तभी एक संन्यासी का
भी आगमन हो गया था। वे इस पर विचार करते थे कि कितने-कितने जन्मों की कितनी-कितनी तपश्चर्या से मुक्ति उपलब्ध होती है। संन्यासी भी इस विवाद में कूद पडे थे। निश्चय ही वे ज्यादा अधिकारी थे और इसलिए उनकी आवाज भी सबसे ज्यादा तेज थी। शास्त्रों की दुहाइयां दी जा रही थीं और कोई भी किसी की सुनने या मानने को तैयार नहीं था। एक वृद्ध का कहना था कि सैकडों जन्म के कठोर तप से मुक्ति प्राप्त होती है। दूसरे का विचार था कि मुक्ति के लिए तप की या सैकडों जन्मों की कोई बात ही नहीं। वह तो प्रभु-कृपा से कभी भी मिल सकती है। तीसरे का कहना था कि चूंकि अमुक्ति भ्रम है, इसलिए तप से उसे नष्ट करने का सवाल ही नहीं है। वह तो ज्ञान की एक झलक में उसी भांति तिरोहित हो जाती है जैसे रज्जु में भासता सर्प विलीन हो जाता है।
फिर किसी ने मुझ से पूछाः "आप का क्या ख्याल है?" मैं क्या कहता? इसीलिए तो एक कोने में चुपचाप दबा बैठा था कि कहीं किसी की दृष्टि मुझ पर भी न पड जाए। शास्त्रों का मुझे कोई ज्ञान नहीं है। सौभाग्य से उस दिशा में जाने की भूल ही मैंने नहीं की। अतः पूछने पर भी मैं चुप ही रह गया। लेकिन थोडी देर बाद फिर किसी ने पूछाः "आप कुछ क्यों नहीं बोलते हैं?" मैं बोलता भी तो क्या बोलता? जहां इतने बोलने वाले हों, वहां मैं अकेला ही तो सुननेवाला था। मैं फिर भी चुप ही रह गया। शायद मेरी यह चुप्पी ही बोलने लगी और उन सबका ध्यान अंततः मेरी ही ओर आ गया। शायद वे सब थक गए थे और विश्राम लेना चाहते थे।
मैं जब फंस ही गया था तो मुझे कुछ न कुछ तो कहना ही था। मैंने एक कहानी कहीः एक गांव में ऐसी परंपरा थी कि जब भी किसी युवक का विवाह होता तो उसे या वरपक्ष को विवाह में कम से कम पांच हजार रुपये खर्च करने पडते थे। वह गांव बडा धनी था और इससे कम में वहां विवाह नहीं होते थे। उस गांव के शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा था। उन शास्त्रों को तो कभी किसी ने नहीं प.ढा था, लेकिन गांव के पुरोहित का ऐसा कहना था। पुरोहित से विवाद कौन करता? उसे तो अतीत की किसी मातृभाषा में लिखे सारे शास्त्र कंठस्थ थे। शास्त्र तो सदा से ही स्वतः प्रमाण रहे हैं। उनमें जो है, वही सत्य है। सत्य का और लक्षण ही क्या है? शास्त्र में होना ही तो सत्य का लक्षण है! लेकिन एक बार ऐसा हुआ कि एक युवक ने केवल पांच सौ रुपयों में ही विवाह
कर डाला और उसकी बहू भी आ गई। निश्चय ही वह युवक कुछ विद्रोही रहा होगा, अन्यथा ऐसा कैसे कर सकता था। गांव के लोगों ने उससे पूछाः "तूने कितने रुपये खर्च किए?" वह बोलाः "पांच सौ।" फिर तो गांव की पंचायत बैठी और पंचों ने उससे कहाः "गलत है। बिना पांच हजार खर्च किए तो विवाह हो ही नहीं सकता।" वह युवक हंसा और बोलाः "पांच सौ से विवाह हो सकता है या नहीं, यह व्यर्थ बहस तुम करो। मुझको तो बहू मिल गई है और उसका सुख प्राप्त है।"
यह कह कर वह युवक अपने घर चल दिया था।
मैं भी उठा और उन वृद्धों से बोलाः "पंचो, नमस्कार। आप बहस जारी रखें, मैं भी अब चलता हूं।"

धर्म मूलतः अभय में प्रतिष्ठा का मार्ग है

मनुष्य अकेला है, अंधकार में है, असहाय है, असुरक्षित और भयभीत है। यही उसकी चिंता है। इससे मुक्ति का उपाय ही धर्म है।
धर्म मूलतः अभय में प्रतिष्ठा का मार्ग है।
लेकिन धर्म के नाम पर जो धर्म हैं, वे अभय से ही सर्वाधिक भयभीत रहते हैं। उनका स्वयं का आधार और प्राण ही मनुष्य-मन का भय है। भय ही उनका पोषण और जीवन है। अभय का तो अर्थ ही है, उनकी मृत्यु। मनुष्य के भय का बहुत शोषण हुआ है। इस शोषण में धर्म पीछे नहीं रहे हैं। शायद, वे ही अग्रणी हैं! भय के सहारे ही भूत-प्रेत जीते हैं, भय के सहारे ही धर्मों के भगवान भी। भय के

सहारे खडे भूत-प्रेतों ने तो मनुष्य को डराया ही है। फिर भी यह कार्य उनके मनोविनोद की क्रीडा से ज्यादा नहीं रहा। लेकिन भय के भगवानों ने तो मनुष्य को मार ही डाला है। उनकी लीला बहुत महंगी पडी है। जीवन भयों के जाल में फंस गया है, और जहां भय ही भय है, वहां आनंद कहां? प्रेम कहां? शांति कहां? सत्य कहां? आनंद तो अभय की स्फुरणा है। भय मृत्यु है। अभय अमृत है। भय पर भूत-प्रेत जीएं, यह तो समझ में आता है, लेकिन भय पर ही भगवान का
भी जीना बहुत अशोभन है।
और फिर जब भगवान ही भय पर जीएं, तब तो भय के भूत-प्रेतों से मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं है!
मैं कहता हूंः भगवान का भय से कोई संबंध नहीं है। निश्चय ही भगवान की
आड में इस भय का शोषण कोई और ही कर रहा है।
धर्म धार्मिकों के हाथ में नहीं है। कहते हैं कि जब भी सत्य का कोई आविष्कार होता है तो शैतान सबसे पहले उस पर कब्जा कर लेता है। धर्म का आविष्कार जिन आत्माओं में होता है, और धर्म का व्यवसाय जो करते हैं, उनमें भिन्नता ही नहीं, आधारभूत विरोध है। धर्म सदा से ही स्वयं के शत्रुओं के हाथ में है। यदि इस तथ्य को समय रहते नहीं समझा गया तो मनुष्य का भविष्य सुंदर और स्वागतयोग्य नहीं हो सकता है।
धर्म को अधार्मिकों से नहीं, तथाकथित धार्मिकों से ही बचाना है। और निश्चय ही यह कार्य ज्यादा कठिन और कष्टसाध्य है।
धर्म जब तक भय पर आधारित है, तब तक वह वस्तुतः धर्म नहीं बन सकता है। परमात्मा का आधार प्रेम है। भय के भगवान की नहीं, मनुष्य को प्रेम के परमात्मा की आवश्यकता है।
प्रेम के अतिरिक्त परमात्मा का और कोई पथ नहीं है। भय तो न केवल गलत है, बल्कि घातक है। क्योंकि जहां भय है, वहां घृणा है। जहां भय है, वहां प्रेम असंभव है।
धर्म ने भय पर ही जीना चाहा, इसलिए ही उसका मंदिर धीरे-धीरे खंडहर होता गया है। मंदिर तो प्रेम के होते हैं। भय के मंदिर तो असंभव हैं। भय के मंदिर नहीं, कारागृह ही होते हैं और हो सकते हैं।
मैं पूछता हूंः क्या धर्मों के मंदिर, मंदिर हैं या कारागृह?
धर्म यदि भय है तो मंदिर कारागृह होंगे ही। धर्म यदि भय है तो स्वयं परमात्मा भी कारागृहों के परमाधिकारी से ज्यादा कैसे हो सकता है?
धर्म क्या है? भय पाप का, दंड का, नरक का? या फिर प्रलोभन पुण्य का, पुरस्कार का, स्वर्ग का?
नहीं। न धर्म भय है, न प्रलोभन। प्रलोभन तो भय का ही विस्तार है।
धर्म है अभय।
धर्म है समस्त भयों से मुक्ति।
एक पुरानी घटना है। किसी नगरी में दो भाई रहते थे। उस नगरी में सर्वाधिक धन उन्हीं के पास था। शायद नगरी का नाम था, अंधेर नगरी! बडा भाई बडा धार्मिक था। रोज नियमित मंदिर जाता था। दान-पुण्य करता था। कथा- वार्ता सुनता था। साधु-संतों का सत्संग करता था। उसके कारण भवन में प्रतिदिन ही महात्माओं की भीड जुडी रहती थी। इस लोक में साधु-संतों की सेवा से वह परलोक में स्वर्ग का अधिकारी बन गया था। ऐसा वे साधु-संत उसे समझाते थे। शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा है, क्योंकि वे शास्त्र भी उन्हीं साधु-संतों के गिरोह ने बनाए हैं। वह एक ओर धन का शोषण करता था और दूसरी ओर दान-पुण्य करता। दान-पुण्य के बिना स्वर्ग नहीं है। धन के बिना दान-पुण्य नहीं है। शोषण के बिना धन नहीं है। अधर्म से धन होता है और फिर धन से धर्म होता है! वह दूसरों का शोषण करता था। साधु-संत उसका शोषण करते थे और शोषकों-शोषकों में तो सदा से ही मैत्री रही है! लेकिन उसे अपने छोटे भाई पर सदा ही बहुत दया आती थी। वह धन जुटाने में कुशल नहीं था, और परिणामतः धर्म जुटाने में भी असफल हुआ जाता था। उसका प्रेम और सत्य का व्यवहार ही उसके और परमात्मा के आडे आ रहा था! फिर न वह मंदिर ही जाता था और न धर्म-शास्त्रों का क, ख, ग, ही जानता था। उसकी स्थिति निश्चित ही दयनीय थी और परलोक में उसका खाता खाली पडा था। साधु-संतों से भी वह ऐसे बचता था, जैसे लोग छुतही बीमारियों से बचते हैं। महात्मागण घर में एक द्वार से आते

तो वह दूसरे द्वार से बाहर हो जाता था। उसका धार्मिक भाई अनेक महात्माओं से अपने अधार्मिक भाई के हृदय-परिवर्तन के लिए प्रार्थना करता था। लेकिन जब वह महात्माओं के सान्निध्य में रुके तभी तो परिवर्तन हो। वह तो रुकता ही नहीं था। लेकिन एक दिन एक पूरे और असली महात्मा आ पहुंचे। उन्होंने न मालूम कितने अधार्मिकों को धार्मिक बना दिया था। साम, दाम, दंड, भेद, सभी में वे कुशल थे। लोगों को धार्मिक बनाना ही उनका धंधा था। ऐसे ही महात्माओं पर तो धर्म की आधारशिलाएं टिकी हैं। नहीं तो धर्म तो कभी का ही मिट-मिटा गया होता। उनसे भी बडे भाई ने अपनी प्रार्थना दुहराई तो वे बोलेः "घबडाओ मत। उस मूर्ख की अब शामत आ गई है। मैं उससे प्रभु-स्मरण कराके ही रहूंगा। मैं जो कहता हूं, उसे सदा पूरा करता हूं।" यह कह कर उन्होंने अपना डंडा उठाया और बडे भाई के साथ हो लिए। पहले वे एक पहलवान थे। फिर महात्मागिरी को पहलवानी से भी अच्छा धंधा समझ महात्मा हो गए थे। उन्होंने आते ही छोटे भाई को पकड लिया। न केवल पकडा ही, बल्कि गिरा कर उसकी छाती पर सवार हो गए। वह युवक कुछ समझ ही न पाया। हैरानी से वह अवाक ही रह गया। फिर भी उसने कहाः "महानुभाव! यह क्या करते हैं?" महात्मा ने कहाः "हृदय-परिवर्तन।" वह युवक हंसा और बोलाः "छोडिए। यह भी हृदय-परिवर्तन की कोई राह है? देखिए, कहीं आपकी देह को कुछ चोट न लग जाए!" महात्मा बोलेः "हम देह को माननेवाले नहीं। हम तो ब्रह्म को मानते हैं। "राम" कहो, तभी छोडेंगे। नहीं तो हम से बुरा कोई भी नहीं है।" महात्मा बडे दयालु थे, सो उस युवक के हित के लिए मारने-पीटने को तैयार हो गए। उस युवक ने कहाः "भय से भगवान का क्या संबंध? और भगवान का क्या कोई नाम है? और, नाम भी हो तो प्रभुमय जीवन चाहिए या उसका स्मरण? ऐसे तो मैं "राम" नहीं बोलूंगा। चाहे जीवन रहे या जाए।" और फिर उसने महात्मा को धक्का दे नीचे गिरा दिया। गिर कर महात्मा बोलेः "वाह, वाह! बोल दिया। "मैं राम नहीं बोलूंगा", यह भी राम बोलना ही है।" उसका भाई महात्मा के गिराए जाने से छोटे भाई पर बहुत नाराज हुआ, लेकिन महात्मा से वह बहुत प्रसन्न था। नास्तिक भाई से उसने प्रभु-स्मरण जो करा दिया था! राम-नाम की महिमा तो अपार है। उसे तो एक बार भूल से बोलने से भी मनुष्य भवसागर से तर जाता है! उस दिन उसने नगर-भोज दिया। उसका छोटा भाई धार्मिक जो हो गया था!

मनुष्य जैसा होता है वैसा ही उसका धर्म होता है

एक परमात्मा को मानने वालों ने दूसरे परमात्मा की मूर्तियां तोड दी हैं। वैसे यह कोई नई बात नहीं है। सदा से ही ऐसा होता रहा है। मनुष्य ही एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं हैं, उनके परमात्मा भी हैं। असल में मनुष्य जिन परमात्माओं का सृजन करता है, वे स्वयं उससे बहुत भिन्न नहीं हो सकते हैं। एक मंदिर दूसरे मंदिर के विरोध में खडा है, क्योंकि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरोध में है। एक शास्त्र दूसरे शास्त्र का शत्रु है, क्योंकि मनुष्य मनुष्य का शत्रु है। मनुष्य जैसा होता है, वैसा ही उसका धर्म होता है। मनुष्य मैत्री लाने के बजाय शत्रुता के ग.ढ बन गए हैं और जगत को प्रेम से भरने के बजाय उन्होंने बैर-वैमनस्य के विष से भर दिया है।
मैं मूर्तियां टूटने की खबर सुन कर लौटा ही था कि जिनकी मूर्तियां तोडी गई थीं, उनमें से कुछ व्यक्ति मेरे पास आए। वे बडे सात्विक क्रोध से भरे हुए थे! हालांकि कोई क्रोध सात्विक नहीं होता है। फिर भी उन्होंने कहा कि उनका क्रोध सात्विक है! और वे जब तक विरोधियों के मंदिरों को नष्ट नहीं कर देंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे! सवाल धर्म की रक्षा का है।
मैं हंसने लगा तो वे हैरान हुए। निश्चय ही यह समय हंसने का नहीं था।
वे बहुत गंभीर थे और उनकी दृष्टि में इससे ज्यादा गंभीर क्या बात हो सकती थी कि धर्म पर खतरा था!
मैंने उन मित्रों से पूछाः "क्या आप शैतान की भाषा समझते हैं?"
एक ने पूछाः "यह कौन सी भाषा है?"

शास्त्रों की भाषा तो वे समझते थे, लेकिन शैतान की भाषा नहीं समझते थे। हालांकि शैतान की भाषा को समझे बिना स्वयं शास्त्र ही शैतान के शास्त्र बन जाते हैं!

मैंने उनसे एक कहानी कहीः

एक नाव दूर-देश जा रही थी। और यात्रियों के साथ उसमें एक दरिद्र फकीर भी था। कुछ शरारती व्यक्ति उस फकीर को सब भांति परेशान कर रहे थे। वह जब परमात्मा की रात्रिकालीन प्रार्थना में बैठा था तो यह सोचकर कि अब तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा, उन्होंने उसके सिर पर जूते लगाने शुरू कर दिए। वह तो प्रार्थना में था और उसकी आंखों से प्रेम के आंसू बह रहे थे। तभी आकाशवाणी हुईः "मेरे प्यारे! तू कहे तो नाव उलट दूं।" वे व्यक्ति घबडा गए। और यात्री भी घबडा गए। मनोविनोद तो महंगा पड रहा था। वे सब उस फकीर के पैरों पर गिर क्षमा मांगने लगे। फकीर की प्रार्थना पूरी हुई तो वह उठा और उन लोगों से बोलाः "घबडाओ मत।" फिर उसने आकाश की ओर मुंह उठाया और कहाः "मेरे प्यारे प्रभु! यह तू कैसी शैतान की भाषा में बोल रहा है? तू कुछ उलटने की ही लीला करना चाहता है, तो इनकी बुद्धि उलट दे। नाव उलटने से क्या होगा?" फिर आकाश-घोषणा हुईः "मैं बहुत खुश हूं। तूने ठीक पहचाना। वह वाणी मेरी नहीं थी। जो शैतान की भाषा पहचान लेता है, वही फिर मेरी भाषा पहचान सकता है।"

साहस

सत्य की खोज में सर्वाधिक आवश्यक क्या है?

मैं कहता हूंः साहस--स्वयं के यथार्थ को जानने का साहस। मैं जैसा हूं, वैसा ही स्वयं को जानना सर्वाधिक आवश्यक है। वह बहुत कठिन है। लेकिन उसके बिना सत्य में कोई गति भी संभव नहीं है। स्वयं को निर्वस्त्र और नग्न जानने से ज्यादा बडा तप और क्या है? लेकिन, सत्य की उपलब्धि के लिए वही मूल्य चुकाना होता है। उससे ही व्यक्ति की सत्य के प्रति अभीप्सा की घोषणा होती है। स्वयं के प्रति सच्चाई ही तो सत्य के प्रति प्यास की प्रगा.ढता की अभिव्यक्ति है। असत्य के तट से जो स्वयं को बांधे हुए है, वह अपनी नौका सत्य के सागर में कैसे ले जा सकेगा? असत्य के तट को तो छोडना ही होगा। वह तट ही तो सत्य की यात्रा के लिए बाधा है। वह तट ही तो बंधन है। निश्चय ही उस तट में सुरक्षा है। सुरक्षा की अति चाह ही तो असत्य का ग.ढ है। सत्य की यात्रा में सुरक्षा का मोह नहीं, वरन अज्ञात को जानने का अदम्य साहस चाहिए। असुरक्षित होने का जिसमें साहस नहीं है, वह अज्ञात का खोजी भी नहीं हो सकता है। असुरक्षित होने की चुनौती को स्वीकार किए बिना कोई न तो अपने ओ.ढे हुए रूपों को ही उतार सकता है, और न ही उन मुखौटों से मुक्त हो सकता है जो सुरक्षा के लिए उसने पहन रखे हैं। क्या सुरक्षा के निमित्त ही, हम जो नहीं हैं, वही नहीं बने हुए हैं? क्या हमारी सारी वंचनाएं सुरक्षा की ही आयोजनाएं नहीं हैं? यह हमारी सारी सभ्यता और संस्कृति क्या है? अहंकारी विनयी बना है। लोभी त्यागी बना है। शोषक दान करता है। हिंसक ने अहिंसक के वस्त्र पहन रखे हैं। और घृणा से भरे हुए चित्त प्रेम की भाषा बोल रहे हैं। यह आत्मवंचना बहुत सुगम भी है। नाटकों में अभिनय कब कठिन रहे हैं? संस्कृति के बाजार में सुंदर मुखौटे सदा से ही सस्ते दामों में मिलते रहे हैं। लेकिन स्मरण रहे कि जो सौदा ऊपर से सस्ता है, अंततः वही सबसे महंगा सिद्ध होता है। क्योंकि जो व्यक्ति मुखौटों में स्वयं को छिपाता है, वह स्वयं से और सत्य से निरंतर दूर होता जाता है। सत्य के और उसके बीच एक अलंघ्य खाई निर्मित हो जाती है, क्योंकि उसकी आत्मा स्वयं के अनावरण के भय से ही सदा त्रस्त रहने लगती है। वह फिर स्वयं को छिपाता ही चला जाता है। वस्त्रों के ऊपर वस्त्र और मुखौटों के ऊपर मुखौटे। असत्य अकेला नहीं आता है। उसकी सुरक्षा के लिए उसकी फौजें भी आती हैं। असत्य और भय का फिर ऐसा जाल बन जाता है कि उसके ऊपर आंखें उठाना भी असंभव हो जाता है। व्यक्ति जब स्वयं के ही मुखौटों के उठ जाने के भय से पीडित हो तो वह सत्य के पात्र को उघाडने की सामथ्र्य कहां से जुटा सकता

है? वह शक्ति तो स्वयं को उघाडने के साहस से ही अर्जित होती है। सत्य-साक्षात के लिए भयभीत चित्त तो शत्रु है। उस दिशा में कौन मित्र है? अभय मित्र है। चित्त की अभयता उसे ही प्राप्त होती है, जो स्वयं के यथार्थ को स्वयं ही सब भांति उघाड कर भय से मुक्त हो जाता है। स्वयं को ढांकने से भय ब.ढता जाता है, और आत्मा शक्तिहीन होती जाती है, किंतु स्वयं को उघाडो और देखो तो उस ज्ञान के प्रकाश में ही भय तिरोहित हो जाते हैं और शक्ति के अभिनव और अमित स्रोतों की उपलब्धि होती है। इसे ही मैं साहस कहता हूं-- स्वयं को उघाडने और जानने की क्षमता ही साहस है। सत्योपलब्धि के लिए वह अनिवार्य है। ब्रह्म की दिशा में वही पहला चरण है। एक अत्यंत मधुर कथा हैः एक किशोर ऋषि हरिद्रुमत गौतम के आश्रम में पहुंचा। वह सत्य को जानना चाहता था। ब्रह्म के लिए उसकी जिज्ञासा थी। उसने ऋषि के चरणों में सिर रख कर कहाः "आचार्य, मैं सत्य को खोजने आया हूं। मुझ पर अनुकंपा करें और ब्रह्मविद्या दें। मैं अंधा हूं और आंखें चाहता हूं।"
उस किशोर का नाम सत्यकाम था।
ऋषि ने उससे पूछाः "वत्स, तेरा गोत्र क्या है? तेरे पिता कौन हैं? उनका नाम क्या है?"
उस किशोर को न अपने पिता का कोई ज्ञान था, न ही गोत्र का पता था। वह अपनी मां के पास गया और उससे पूछ कर लौटा। और उसकी मां ने जो उससे कहा, उसने जाकर ऋषि को कहा। वह बोलाः "भगवन! मुझे अपने गोत्र का ज्ञान नहीं है। न ही मैं अपने पिता को जानता हूं। मेरी मां को भी मेरे पिता का ज्ञान नहीं है। उससे मैंने पूछा तो उसने कहा कि युवावस्था में वह अनेक भद्रपुरुषों में रमती और उन्हें प्रसन्न करती रही। उसे पता नहीं कि मैं किससे जन्मा हूं। मेरी मां का नाम जाबाली है। इसलिए, मैं सत्यकाम जाबाल हूं। ऐसा ही आपसे बताने को उसने मुझे कहा है।"
हरिद्रुमत इस सरल सत्य से अभिभूत हो उठे। उन्होंने उस किशोर को हृदय
से लगा लिया और बोलेः "मेरे प्रिय! तू निश्चय ही ब्राह्मण है। सत्य के लिए ऐसी आस्था ही ब्राह्मण का लक्षण है। तू ब्रह्म को जरूर पा सकेगा, क्योंकि जिसमें स्वयं के प्रति सच्चा होने का साहस है, सत्य स्वयं ही उसे खोजता हुआ उसके द्वार आ जाता है।"

महत्वाकांक्षा का मूल: हीनता का भाव

मैं महत्वाकांक्षा की धुरी पर घूम रहे जीवन-वृत्त को ही नरक कहता हूं। महत्वाकांक्षाओं का ज्वर ही जीवन को विषाक्त करता है। मनुष्य जिन बडी से बडी रुग्णताओं और विक्षिप्तताओं से परिचित है, महत्वाकांक्षा से बडी बीमारी उनमें से कोई भी नहीं है। क्योंकि जो चित्त महत्वाकांक्षाओं की हवाओं से उद्वेलित है, शांति, संगीत और आनंद उसके भाग्य में नहीं हो सकता है। वह स्वयं में ही नहीं होता है। और शांति, संगीत और आनंद तो स्वयं में होने के ही फल हैं। जो स्वयं में नहीं है, वही अस्वस्थ है। स्वयं में होना ही तो स्वस्थ होना है।
एक युवती पूछती थीः "इस महत्वाकांक्षा का मूल क्या है?"
मैंने कहाः "हीनता का भाव। अभाव का बोध।"
निश्चय ही हीनता का भाव और महत्वाकांक्षी-चेतना विरोधी दिखाई पडते हैं। लेकिन क्या वे वस्तुतः विरोधी हैं? नहीं, वे विरोधी नहीं हैं, वरन एक ही भावदशा के दो छोर हैं। एक छोर से जो हीनता है वही दूसरे छोर से महत्वाकांक्षा है। हीनता ही स्वयं से मुक्त होने के प्रयास में महत्वाकांक्षा बन जाती है। वह सुसज्जित हीनता ही है। लेकिन बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्त्रों के पहन लेने से भी न तो वह मिटती है और न नष्ट ही होती है। यह हो भी सकता है कि वह औरों की दृष्टि से छिप जाए, लेकिन स्वयं को तो निरंतर ही उसके दर्शन होते रहते हैं। वस्त्रों में छिप कर व्यक्ति अन्यों के लिए तो नग्न नहीं रह जाता है, लेकिन स्वयं के समक्ष तो उसकी नग्नता पूर्ववत ही होती है। यही तो कारण है कि दूसरों की आंखों में जिनकी

महत्वाकांक्षा की सफलताएं चकाचैंध पैदा कर देती हैं, फिर भी वे स्वयं अपने भीतर और बडी सफलताओं की योजनाओं में ही चिंताग्रस्त बने रहते हैं। उनकी हीनता का आंतरिक भाव किसी भी सफलता से नष्ट नहीं होता है। हर नई सफलता उन्हें और आगे की सफलताओं की चुनौती बन कर ही आती है। इस भांति जिन सफलताओं को उन्होंने समाधान जाना था, वे और नई समस्याओं की जन्मदात्री- मात्र ही सिद्ध होती हैं। जब भी किसी जीवन-समस्या को गलत ढंग से पकडा जाता है, तो परिणाम यही होता है। समस्या के समाधान समस्या से भी बडी समस्याएं बनकर आते हैं।
यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी रोग को ढांकने से कभी भी कोई छुटकारा नहीं है। इस भांति रोग मिटते नहीं, बल्कि और पुष्ट ही होते हैं। हीनभाव ग्रंथि से पीडित चित्त उसे ढांकने और भूलने के प्रयास में ही महत्वाकांक्षा से भर जाता है। महत्वाकांक्षा की त्वरा में स्वयं को विस्मरण करना आसान भी है। फिर चाहे यह महत्वाकंाक्षा संसार की हो, या मोक्ष की, इससे कोई भेद नहीं पडता है। महत्वाकांक्षा मादक है। उसका नशा गहरी आत्मविस्मृति लाता है। लेकिन व्यक्ति जिस नशे का या नशे की जिस मात्रा का आदी हो जाता है फिर उससे मादकता नहीं आती है। इसलिए चित्त को नशों की ज्यादा से ज्यादा मात्राएं चाहिए, और नये-नये नशे चाहिए। इसलिए महत्वाकांक्षाएं ब.ढती ही जाती हैं। उनका कोई अंत ही नहीं आता है। उनका अथ तो है, पर इति नहीं है। और जब सांसारिक महत्वाकांक्षाओं से व्यक्ति ऊब जाता है या उसकी मौत निकट आने लगती है तो फिर तथाकथित धार्मिक महत्वाकांक्षाएं शुरू होती हैं। वे और भी इंद्रजालिक हैं। उनका नशा और भी गहरा है, क्योंकि प्रत्यक्ष में उनकी उपलब्धि न होने से उनके अंग-भंग होने का भय भी नहीं होता है।
व्यक्ति जब तक स्वयं की वास्तविकता से अन्य होना चाहता है, तब तक वह किसी न किसी रूप में महत्वाकांक्षा के ज्वर से ही ग्रस्त होता है। स्वयं से अन्य होने की आकांक्षा में वह स्वयं जैसा है, उसे ढांकता है और भूलता है। लेकिन क्या किसी तथ्य का ढंक जाना और उससे मुक्त हो जाना एक ही बात है? क्या किसी तथ्य की विस्मृति और उसका विसर्जन एक ही बात है? नहीं, हीनता की विस्मृति, हीनता से मुक्ति नहीं है। यह तो अत्यंत अबुद्धिपूर्ण प्रतिक्रिया है। इसीलिए तो ज्यों-ज्यों दवा की जाती है, त्यों-त्यों मर्ज ब.ढता ही जाता है। महत्वाकांक्षी चित्त की प्रत्येक सफलता आत्मघाती है, क्योंकि वह महत्वाकांक्षा की अग्नि में घृत का ही काम करती है। सफलता तो आ जाती है, लेकिन हीनता नहीं मिटती, इसीलिए और बडी सफलताएं आवश्यक और अपरिहार्य हो उठती हैं। मूलतः यह तो हीनता का ही ब.ढते जाना है।
मनुष्य का समग्र इतिहास ऐसे ही रुग्ण-चित्त अस्वस्थ लोगों से भरा पडा है। तैमूरलंग, सिकंदर या हिटलर और क्या हैं? कृपा करके उन बेचारों पर हंसे नहीं, क्योंकि बीमारों पर हंसना शिष्टता नहीं है। फिर इस कारण से भी हंसना अनुचित है, क्योंकि उनकी बीमारियों के कीटाणु हम सबके भी भीतर मौजूद हैं। हम भी उनके ही वसीयतदार हैं। व्यक्ति नहीं, पूरी मनुष्य-जाति ही महत्वाकांक्षा के रोग से ग्रसित है। और इसीलिए तो वह महारोग हमारी दृष्टि में भी नहीं आता है। मेरी दृष्टि में तो मानसिक स्वास्थ्य का अनिवार्य लक्षण महत्वाकांक्षा-मुक्त जीवन ही है। महत्वाकांक्षा रुग्णता है और इसीलिए वह विध्वंसात्मक है। रोग तो सदा ही मृत्यु के अनुचर हैं। महत्वाकांक्षा विध्वंस है, हिंसा है। वह रुग्णचित्त से निकली घृणा है, ईर्ष्या है। मनुष्य-मनुष्य के बीच संघातिक संघर्ष वही तो है। युद्ध वही तो है। मोक्ष तक की महत्वाकांक्षा विध्वंसक होती है। वह आत्महिंसा बन जाती है। वह स्वयं से ही शत्रुता बन जाती है। सांसारिक महत्वाकांक्षा औरों के प्रति हिंसक है। मोक्ष की महत्वाकांक्षा स्वयं के प्रति ही हिंसक है। जहां महत्वाकांक्षा है, वहां हिंसा है। यह दूसरी बात है कि वह बहिर्गामी हो या अंतर्गामी, पर हिंसा सदा ही प्रत्येक स्थिति और रूप में विध्वंसक होती है। इसीलिए केवल वे चेतनाएं ही सृजनात्मक हो सकती हैं, जो महत्वाकांक्षा से मुक्त होती हैं। सृजनात्मकता केवल स्वस्थ और शांत चित्त से ही स्फूर्त हो सकती है। स्वस्थ चित्त स्वयं में स्थित होता है, कुछ और होने की दौ.ड उसमें नहीं होती है। कुछ और होने की दौड के धुएं में

व्यक्ति उसे नहीं जान पाता है, जो वह है। और स्वयं को न जानना ही वह मूल और केंद्रीय अभाव है, जिससे सारी हीनताओं का आविर्भाव होता है।
आत्मज्ञान के अतिरिक्त अभाव से और कोई मुक्ति नहीं है।
महत्वाकांक्षाएं नहीं, आत्मज्ञान ही अभाव से मुक्त करता है। और उसके लिए चित्त से महत्वाकांक्षाओं की विदाई अत्यंत आवश्यक है।
तैमूर और बैजद के बीच हुई एक चर्चा मुझे याद आ गई है।
सुलतान बैजद युद्ध में हार गया था और विजेता तैमूर के समक्ष बंदी बनाकर लाया गया था। उसे देख कर अनायास ही तैमूर जोर से हंसने लगा था। इस पर अपमानित बैजद ने बडे अभिमान से सर उठा कर कहा थाः "जंग में फतह पाकर इतना गर्व मत करो तैमूर, याद रखो कि दूसरे की शिकस्त पर हंसने वाला एक दिन खुद अपनी शिकस्त पर आंसू बहाता है!"
सुलतान बैजद काना था और तैमूर लंगडा। काने बैजद की बात सुन कर लंगडा तैमूर और दुगनी तेजी से हंसने लगा और बोलाः "मैं इतना बेवकूफ नहीं कि इस छोटी सी जीत पर हंसूं! मुझे तो अपनी और तुम्हारी स्थिति पर हंसी आ रही है! देखो न, तुम काने और मैं लंगडा! मैं तो यह सोच कर हंसा कि खुदावंद हम-तुम जैसे लंगडों-कानों को क्यों बादशाहतें देता है?"
मैं कब्र में सोए तैमूर से कहना चाहता हूंः "यह दोष खुदावंद का नहीं है। वस्तुतः लंगडों-कानों के अतिरिक्त और कोई बादशाहतें पाने को उत्सुक ही नहीं होता है।"
क्या यह सत्य नहीं है कि जिस दिन मनुष्य-चित्त स्वस्थ होगा, उस दिन बादशाहतें नहीं होंगी? क्या यह सत्य नहीं है कि जो स्वस्थ हुए हैं, उनसे बादशाहतें सदा ही छूटती रही हैं?
मनुष्य स्वयं में किसी भी भांति की हीनता पाकर उससे पलायन करने लगता है। वह ठीक उसकी विपरीत दिशा में दौडने लगता है। और यहीं भूल हो जाती है। सब हीनताएं बहुत गहरे में आंतरिक अभाव की सूचनाओं से ज्यादा नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति ही आंतरिक अभाव में है। एक रिक्तता प्रत्येक को ही अनुभव होती है। इस आंतरिक रिक्तता को ही बाह्य उपलब्धियों से भरने की चेष्टा चलती है। लेकिन आंतरिक रिक्तता के गड्ढे को बाह्य से भरना कैसे संभव है? क्योंकि जो बाह्य है, वह इसी कारण तो आंतरिक को भरने में असमर्थ है। और सभी-कुछ तो बाह्य हैः धन, पद, गुण, प्रभुता, धर्म, पुण्य, त्याग, ज्ञान, परमात्मा, मोक्ष। फिर आंतरिक क्या है? उस अभाव, उस रिक्तता और शून्यता को छोड कर और कुछ भी आंतरिक नहीं है। इससे उस शून्य से भागना स्वयं से ही भागना है। उससे पलायन स्वयं की सत्ता से ही पलायन है। उससे भागने में नहीं, वरन उसमें जीने और जागने में ही कल्याण है। जो व्यक्ति उसमें जीने और जागने का साहस करता है, उसके समक्ष वह शून्य ही पूर्ण बन जाता है। उसके लिए वह रिक्तता ही परम मुक्ति सिद्ध होती है। उस ना-कुछ में ही सब-कुछ है। उस शून्य में ही सत्ता है। वह सत्ता ही परमात्मा है।

जागो और जीओ!

मैं आप सबको जीवन के संबंध में सोच-विचार में पडे देख कर बहुत हैरान होता हूं। जीवन सोच-विचार से नहीं, वरन उसकी समग्रता में उसे जीने से ही जाना जाता है। सत्य से परिचित होने का और कोई मार्ग ही नहीं है। जागो और जीओ। जागो और चलो। सत्य कोई मृत वस्तु नहीं है कि उसे बैठे-बिठाए ही पाया जा सके। वह तो अत्यंत जीवंत प्रवाह है। जीवन के साथ ही साथ जो सब भांति मुक्त और निर्बंध हो बहता है, वही उसे पाता है। बहुत दूर के सोच-विचार में अक्सर ही निकट को खो दिया जाता है, जबकि निकट ही सत्य है और निकट में ही वह भी छिपा है जो दूर है। क्या दूर को पाने के लिए सर्वप्रथम निकट को ही पाना अनिवार्य नहीं है? क्या समस्त भविष्य वर्तमान के क्षण में ही उपस्थित नहीं है? क्या एक छोटे से कदम में ही बडी से बडी मंजिल का भी आवास नहीं होता है?

एक सीधा-सादा किसान, जीवन में पहली बार पहाडियों की यात्रा को जा रहा था। वे पहाडियां यद्यपि उसके गांव से बहुत ज्यादा दूर नहीं थीं, फिर भी वह कभी उन तक नहीं जा सका था। उनकी हरियाली से ढंकी चोटियां उसे अपने खेतों से ही दिखाई पडती थीं। बहुत बार उसके मन में उन्हें निकट से जाकर देखने की आकांक्षा अत्यंत बलवती भी हो जाती थी। लेकिन कभी एक, तो कभी दूसरे कारण से बात टलती चली गई थी, और वह वहां नहीं जा पाया था। पिछली बार तो वह इसलिए ही रुक गया था, क्योंकि उसके पास कंडील नहीं थी और पहाडियों पर जाने के लिए आधी रात के अंधेरे में ही निकल जाना आवश्यक था। सूर्य निकल आने पर तो पहाड की कठिन च.ढाई और भी कठिन हो जाती थी। एक दिन वह कंडील भी ले आया और पहाडों पर जाने की खुशी में रातभर सो भी नहीं सका। रात्रि दो बजे ही वह उठ गया और पहाडियों के लिए निकल पडा। लेकिन गांव के बाहर आकर ही वह ठिठक कर रुक गया। उसके मन में एक चिंता और दुविधा पैदा हो गई। उसने गांव के बाहर आते ही देखा कि अमावस की रात्रि का घुप्प अंधकार है। निश्चय ही उसके पास कंडील थी, लेकिन उसका प्रकाश तो दस कदमों से ज्यादा नहीं पडता था और च.ढाई थी दस मील की! वह सोचने लगा कि जाना है दस मील और रोशनी है केवल दस कदम पडने वाली, तो कैसे पूरा पडेगा? ऐसे घुप्प अंधकार में इतनी सी कंडील के प्रकाश को लेकर जाना क्या उचित है? यह तो सागर में जरा सी डोंगी लेकर उतरने जैसा ही है। वह गांव के बाहर ही बैठा रहा और सूर्य के निकलने की बाट जोहने लगा। तभी उसने देखा कि एक बू.ढा आदमी उसके पास से ही पहाडियों की तरफ जा रहा है और उसके हाथ में तो और भी छोटी कंडील है। उसने वृद्ध को रोक कर जब अपनी दुविधा बताई तो वृद्ध खूब हंसने लगा और बोलाः "पागल! तू पहले दस कदम तो चल। जितना दीखता है, उतना तो आगे ब.ढ। फिर इतना ही और आगे दीखने लगेगा। एक कदम दीखता हो तो उसके सहारे तो सारी भूमि की ही परिक्रमा की जा सकती है!" यह युवक समझा, उठा और चला और सूर्य निकलने के पूर्व ही वह पहाडियों पर था।
जीवन के मार्ग पर भी उस बू.ढे की सीख याद रखने योग्य है। मैं भी यही आपसे कहना चाहता हूं।
मित्रो! बैठे क्यों हो? उठो और चलो। जो सोचता है, वह नहीं; जो चलता है
बस केवल वही पहुंचता है। स्मरण रहे कि इतना विवेक, इतना प्रकाश प्रत्येक के पास है कि उससे कम से कम दस कदम का फासला दिखाई पड सके और उतना ही पर्याप्त भी है। परमात्मा तक पहुंचने के लिए भी उतना ही पर्याप्त है।

प्रेम जहां है वहां परमात्मा है

प्रेम शक्ति है, और जो प्रेम से जीतता है, वही वस्तुतः जीतता है।
प्रेम जहां है, वहां परमात्मा है, क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है।
स्मरण रहे कि जब भी तुम्हारा मन क्रोध से भरता है, घृणा से भरता है, तभी तुम अशक्त हो जाते हो और परमात्मा से तुम्हारे संबंध क्षीण हो जाते हैं।
इसीलिए ही तो क्रोध में, घृणा में, द्वेष में दुख और संताप पैदा होते हैं, संताप की मनोदशा सर्व की सत्ता से स्वयं की जडों के पृथक होने से पैदा होती है।
प्रेम आनंद से भर देता है, शांति संगीत से और करुणा ऐसी सुगंधियों से
जो इस पृथ्वी की नहीं हैं।
क्यों?
क्योंकि, उनमें होकर तुम सर्वात्मा के निकट हो जाते हो, क्योंकि उनमें होकर तुम परमात्मा के हृदय में स्थान पा जाते हो, क्योंकि उनमें होकर तुम तुम नहीं रहते, वरन परमात्मा ही तुमसे प्रकट होने लगता है। इसीलिए मैं कहता हूं कि जीवन में जो अखंड और अटूट प्रेम को पा लेता है,
वह सब पा लेता है।
एक घटना मुझे स्मरण आती है। मोहम्मद अपने शिष्य अली के साथ किसी मार्ग
से गुजर रहे थे। अली के एक शत्रु ने आकर उसे रोक लिया और उसका अपमान करने

लगा। अली ने शांति से उसके दुर्वचन सुने। उसकी आंखों में प्रेम और प्रार्थना मालूम होती थी। वह शत्रु की विषाक्त बातों को ऐसे सुनता रहा जैसे वह उसकी प्रशंसा करता हो। उसका धैर्य अदभुत था, लेकिन अंततः उसने भी धैर्य खो दिया और वह शत्रु के तल पर नीचे उतर आया और ईंट का जवाब पत्थर से देने लगा। धीरे-धीरे उसकी आंखें क्रोध से भर गईं और उसके हृदय में घृणा और प्रतिशोध के बादल गरजने लगे। उसका हाथ तलवार पर जा चुका था। मोहम्मद अब तक शांति से बैठे सब देख रहे थे। अचानक वे उठे और अली तथा उसके शत्रु को वहीं छोड कर एक ओर चले गए। इससे अली को बहुत आश्चर्य हुआ और मोहम्मद के प्रति मन में शिकायत भी आई। बाद में जब मोहम्मद मिले तो उसने उनसे कहाः "आपका यह कैसा व्यवहार? शत्रु मुझे रोके हुए था और आप मुझे बीच में छोड कर चले आए! क्या यह मृत्यु के मुंह में ही छोड आने जैसा नहीं है?" मोहम्मद ने कहाः "प्यारे! वह मनुष्य निश्चित ही बहुत हिंसक और क्रूर था और उसके भी बहुत क्रोध से भरे हुए थे, लेकिन मैं तुझे शांत और प्रेम से भरा देख कर बहुत आनंदित था। उस समय मैंने देखा कि परमात्मा के दस दूत तेरी रक्षा कर रहे थे और उनके शुभाशीषों की तेरे ऊपर वर्षा हो रही थी। प्रेम और क्षमा के कारण तू सुरक्षित था। लेकिन, जैसे ही तेरा हृदय करुणा को छोड कर कठोर हुआ और तेरी आंखें प्रतिशोध की लपटें प्रकट करने लगीं, वैसे ही मैंने देखा कि वे देवदूत तुझे छोड कर चले गए हैं। उस समय उचित ही था कि मैं भी वहां से हट जाऊं। परमात्मा ने ही तेरा साथ छोड दिया था।"

ठहरो और रुको और स्वयं में देखो

मैं प्रत्येक से पूछता हूं कि जीवन में तुम क्या खोज रहे हो? जीवन की खोज में ही जीवन का अर्थ और मूल्य छिपा है।
कोई यदि कंकड-पत्थर ही खोजता हो तो उसके जीवन का मूल्य उसकी खोज से ज्यादा कैसे होगा?
किंतु, अधिक व्यक्ति क्षुद्र की खोज में ही क्षुद्र हो जाते हैं और अंततः पाते हैं कि जीवन की संपदा उन्होंने ऐसी संपदा को खोजने में गंवाई है, जो संपदा ही नहीं थी।
यह उचित है कि किसी भी यात्रा के पहले हम ठीक से जान लें कि हम कहां पहुंचना चाहते हैं और क्यों पहुंचना चाहते हैं, और यह भी कि क्या गंतव्य यात्रा की कठिनाइयों और श्रम को झेलने योग्य भी है?
जो विचार कर नहीं चलता, वह अक्सर पाता है कि या तो वह कहीं पहुंचता ही नहीं, या फिर कहीं पहंुच भी जाता है तो जहां पहुंच जाता है, उस स्थान को पहुंचने योग्य ही नहीं पाता।
मैं चाहता हूं कि ऐसी भूल तुम्हारे जीवन में न हो, क्योंकि ऐसी भूल सारे जीवन को ही नष्ट कर देती है।
जीवन है छोटा। शक्ति है सीमित। समय है अल्प। इसीलिए, जो विचार से, सावधानी से और सजगता से चलते हैं, वे ही कहीं पहुंच पाते हैं।
एक फकीर था। नाम था उसका शिब्ली। किसी यात्रा पर था। मार्ग में एक युवक को कहीं तेजी से जाते हुए देखा तो उसने पूछाः "मित्र, कहां भागे जा रहे हो?" उस युवक ने बिना ठहरे ही कहाः "अपने घर।" शिब्ली ने इस पर एक बडा अजीब सा सवाल किया। पूछाः "कौन सा घर?"
मैं भी तुमसे यही पूछता हूं। तुम भागे जा रहे हो। सभी भागे जा रहे हैं। मैं पूछता हूंः "कहां भागे जा रहे हो?"
यह सारी दौड कहीं अंधी तो नहीं है?
कहीं ऐसा तो नहीं है कि सब भाग रहे हैं, इसलिए तुम भी भाग रहे हो बिना
यह जाने कि कहां जाना है?
काश, इसके उत्तर में तुम भी वही कह सको, जो उस युवक ने शिब्ली को कहा था, तो मेरे प्राण आनंद से नाच उठेंगे!
उस युवक ने कहा थाः "एक ही तो घर है। परमात्मा का घर। उसकी ही खोज में हूं।"

निश्चय ही शेष सब स्वप्न है--शेष किसी भी घर की खोज स्वप्न है।
घर तो एक ही है--वास्तविक घर तो एक ही हैः परमात्मा का घर। जो उसे खोजना चाहता है, उसे स्वयं को ही खोजना पडता है, क्योंकि स्वयं में ही वह छिपा हुआ है।
क्या परमात्मा के अतिरिक्त कोई और घर भी है?
और क्या स्वयं के अतिरिक्त परमात्मा को कहीं और भी पाया जा सकता है?
मैं शिब्ली की जगह होता तो उस भागते युवक से एक सवाल और पूछता। पता नहीं वह क्या उत्तर देता, लेकिन सवाल तो मैं तुम्हें बता ही दूं।
मैं उससे कहताः "मित्र, परमात्मा को पाना है तो भाग क्यों रहे हो? कहां भागे जा रहे हो? जो यहीं है, उसे भाग कर कैसे पाओगे? जो इसी क्षण है, अभी है, उसे कभी भविष्य में पाने की कामना क्या भ्रांति नहीं? और जो भीतर है, उसे भाग कर खोया ही जा सकता है। उसे पाने के लिए क्या उचित नहीं है कि ठहरो और रुको और स्वयं में देखो?"

धर्म स्वयं की श्वास-श्वास में है

धर्म को मत खोजो। खोजो स्वयं को। धर्म तो फिर अपने आप मिल जाता है।
धर्म क्या शास्त्रों में है?
नहीं। धर्म शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र तो हैं मृत और धर्म है जीवंत स्वरूप। वह शास्त्रों में कैसे हो सकता है?
धर्म क्या संप्रदायों में है?
नहीं। धर्म संप्रदायों में भी नहीं है। संप्रदाय हैं संगठन, और धर्म
तो है निज की अत्यंत निजता। उसके लिए स्वयं के बाहर नहीं, भीतर चलना आवश्यक है।
धर्म स्वयं की श्वास-श्वास में है। बस उसे उघाडने की दृष्टि नहीं है। धर्म स्वयं के रक्त की बूंद में है। बस उसे खोजने का साहस और संकल्प नहीं है। धर्म तो सूर्य की भांति स्पष्ट है, लेकिन आंखें तो खोलो!
धर्म तो जीवन है, लेकिन शरीर की कब्रों से ऊपर तो उठो!
धर्म जडता नहीं है। इसलिए सोओ नहीं, जागो और चलो। जो सोता है, वह खोता है। जो चलता है, वह पहुंचता है। जो जागता है, वह पाता है।
एक राजा संसार के सर्वोच्च धर्म की खोज में था। वह युवा से बू.ढा हो आया था, लेकिन उसकी खोज पूरी नहीं हो पाई थी। वह खोज पूरी होती भी कैसे? जीवन है अल्प और ऐसी खोज है मू.ढतापूर्ण। जीवन अनंत हो तो भी सर्वोच्च धर्म नहीं खोजा जा सकता है, क्योंकि वस्तुतः धर्म तो बस धर्म है--वह तो एक ही है, इसीलिए वहां नीचा और ऊंचा, निकृष्ट और श्रेष्ठ, क्या और कैसे हो सकता है? धर्म चूंकि बहुत नहीं हैं, इसीलिए सर्वोच्च की खोज भी सार्थक नहीं है। जहां अनेक नहीं हैं, एक ही है, वहां तुलना के लिए और तौलने के लिए न अवकाश ही है, न उपाय ही है। वह राजा खोजता तो सर्वोच्च धर्म था और जीता था निकृष्टतम अधर्म में। जब सत्य-धर्म ही नहीं मिल रहा था तो धर्म की दिशा में जीवन को ले जाने का प्रश्न ही नहीं था! अंधेरे और अज्ञात में कहीं कोई जाता है? अधर्म के संबंध में तो कोई नहीं पूछता है, लेकिन धर्म के संबंध में मुश्किल से ही कभी कोई होता है जो यह न पूछता हो। अधर्म के संबंध में कोई विचार और खोज भी नहीं करता। उसे तो जीया जाता है और धर्म को खोजा जाता है। शायद यह तथाकथित खोज, अधर्म में जीने और धर्म में जीने से बचने की ही विधि है।
उस राजा को यह कोई कहता भी नहीं था। अलग-अलग धर्मों के पंडित, साधु और दार्शनिक आते थे। वे एक दूसरे से लडते थे। एक दूसरे के दोष दिखलाते थे। एक दूसरे को भ्रांति और अज्ञान में सिद्ध करते थे। राजा इससे प्रसन्न ही होता था। इस भांति उसके समक्ष धर्म ही भ्रांत और अज्ञान हो जाता था और अधर्म में जीने के लिए और सहारे मिल जाते थे। उस राजा को धर्म के पक्ष में जीतना कठिन था, क्योंकि जितने भी पक्ष थे, वे स्वयं ही धर्म के पक्ष में नहीं थे। पक्ष, पंथ और धार्मिक संप्रदाय स्वयं के पक्ष में होते हैं। धर्म

से उनका कोई भी प्रयोजन नहीं होता, नहीं हो सकता है। जो सब पक्ष छोडता है, वही धर्म का हो सकता है। निष्पक्ष हुए बिना धार्मिक होना असंभव है। धर्म-संप्रदाय अंततः धर्म के शत्रु और अधर्म के मित्र सिद्ध होते हैं।
लेकिन राजा ने खोज बंद नहीं की। वह तो उसके लिए एक खेल ही बन गई थी। फिर अधर्म भी दुख, चिंता और पीडा लाने लगा। मृत्यु करीब आने लगी। जीवन की फसल काटने के दिन आ गए तो वह बहुत उद्विग्न हो उठा। लेकिन, सर्वोच्च और आत्यंतिक रूप से निर्दोष एवं पूर्ण धर्म के अतिरिक्त वह कुछ भी मानने को तैयार न था। वह बहुत हठी था और जब तक पूर्ण धर्म स्पष्ट न हो, तब तक जीवन का एक चरण भी उस ओर न रखने के लिए भी वह कटिबद्ध था। वर्ष पर वर्ष बीतते जाते थे, और वह अपने ही हाथों स्वयं को और कीचड में फंसाता जाता था। फिर तो अंततः उसकी मृत्यु भी निकट आ गई थी।
एक दिन एक युवा भिखारी उसके द्वार पर भीख मांगने आया। राजा को अत्यंत चिंतित, उदास और खिन्नमना देख उसने कारण पूछा। राजा ने उससे कहाः "जान कर भी तुम क्या करोगे? बडे-बडे पंडित, साधु और संत भी कुछ नहीं कर सके हैं।" वह भिखारी बोलाः "हो सकता है, उनका बडा होना ही उनके लिए बाधा बन गया हो? फिर पंडित तो कभी भी कुछ नहीं कर सके हैं। वस्त्रों से पहचाने जानेवाले साधु और संत भी क्या साधु और संत होते हैं?" राजा ने उस भिखारी को गौर से देखा। उसकी आंखों में कुछ था जो भिखारी की नहीं, सम्राटों की ही आंखों में होता है। इसी बीच वह भिखारी पुनः बोलाः "मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता हूं। असल में मैं हूं ही नहीं; लेकिन जो है, वह बहुत कुछ कर सकता है।" उसकी बातें निश्चित ही अदभुत थीं। राजा के पास आए हजारों समझाने वालों से वह एकदम ही भिन्न था। राजा सोचने लगा कि ऐसे दीन-हीन वेष में यह कौन है? फिर भी प्रकटतः उसने कहाः "मैं सर्वोच्च धर्म की खोज कर जीवन को धर्ममय बनाना चाहता था, लेकिन यह नहीं हो सका और फलतः अब अंत समय में मैं बहुत दुखी हूं। कौन सा धर्म सर्वोच्च है?" वह भिखारी खूब हंसने लगा और बोलाः "राजन! आपने गाडी के पीछे बैल बांधने चाहे, इससे ही आप दुखी हैं। धर्म की खोज से जीवन धर्म नहीं बनता, जीवन के धर्म बनने से ही धर्म की खोज होती है। और यह भी कैसा पागलपन कि आपने सर्वोच्च धर्म खोजना चाहा? अरे धर्म की खोज ही काफी थी। सर्वोच्च धर्म? यह तो मैंने कभी सुना नहीं। ये तो शब्द ही असंगत हैं। धर्म में फिर और कुछ जोडने को नहीं रह जाता है। वृत्त ही होता है, पूर्ण वृत्त नहीं। क्योंकि जो पूर्णवृत्त नहीं है, वह वृत्त ही नहीं है। वृत्त का होना ही उसकी पूर्णता भी है। धर्म का होना ही उसकी निरपेक्ष, निर्दोष सत्यता भी है। और जो सर्वोच्च धर्म को सिद्ध करने आपके पास आते रहे, वे भी या तो आपसे कम पागल नहीं थे, या फिर पाखंडी थे। जो जानता है, वह धर्मों को नहीं, धर्म को ही जानता है।"
राजा ने विह्वल होकर उस भिखारी के पैर पकड लिए। उस भिखारी ने कहाः "मेरे पैर छोडें। मेरे पैरों को न बांधें। मैं तो आपके भी पैरों को मुक्त करने आया हूं। राजधानी के बाहर नदी के पार चलें। वहीं मैं धर्म की ओर इंगित कर सकता हूं।" वे दोनों नदी-तट पर गए। राजधानी की श्रेष्ठतम नावें बुलाई गईं। लेकिन वह भिखारी प्रत्येक नाव में कोई न कोई दोष बता देता था। अंततः राजा परेशान हो गया। उसने भिखारी से कहाः "महात्मन्! हमें केवल एक छोटी सी नदी पार करनी है। इसे तो तैर कर भी पार किया जा सकता है। छोडें इन नावों को और चलें, तैर कर ही पार चले चलें। व्यर्थ ही विलंब क्यों कर रहे हैं?"
वह भिखारी जैसे इसकी ही प्रतीक्षा में था। उसने राजा से कहाः "राजन! यही तो मैं कहना चाहता हूं। धर्म-पंथों की नावों के पीछे क्यों पडे हैं? क्या उचित नहीं है कि परमात्मा की ओर स्वयं ही तैर चलें? वस्तुतः धर्म की कोई नाव नहीं। नावों के नाम से सब मल्लाहों के व्यवसाय हैं। स्वयं तैरना ही एकमात्र मार्ग है। सत्य स्वयं ही पाया जाता है। कोई और उसे नहीं दे सकता। सत्य के सागर में स्वयं ही तैरना है। कोई और सहारा नहीं है। जो सहारे खोजते हैं, वे तट पर ही डूब जाते हैं। और जो स्वयं तैरने का साहस करते हैं, वे डूब कर भी पहुंच जाते हैं।"

क्या स्वयं जैसे होने का साहस और प्रौढ़ता आपके भीतर है?

एक बालक ने मुझसे पूछाः "मैं बुद्ध-जैसा बनना चाहता हूं। क्या आप मुझे मेरे आदर्श तक पहुंचने के लिए मार्ग-निर्देश कर सकेंगे?" उस बालक की उम्र बहुत थी। वह कम से कम साठ बसंत तो देख ही चुका था! लेकिन जो दूसरों जैसा बनना चाहता है, वह अभी बालक ही है और उसका मस्तिष्क परिपक्व नहीं हुआ है। क्या व्यक्ति की प्रौ.ढता का लक्षण यही नहीं है कि वह किसी और जैसा नहीं, वरन स्वयं जैसा ही बनना चाहे? और यदि कोई अन्य जैसा बनना भी चाहे तो क्या वह बन सकता है?
व्यक्ति बस स्वयं-जैसा ही हो सकता है। अन्य-जैसा होना असंभव है। मैं
उस वृद्ध को बालक कह रहा हूं तो आप हंसते हैं। लेकिन यदि खोजेंगे तो हंसेंगे नहीं, रोएंगे, क्योंकि पाएंगे कि वह बाल-बुद्धि आप में भी मौजूद है। क्या आप भी किसी अन्य-जैसा नहीं होना चाहते हैं? क्या स्वयं जैसा होने का साहस और प्रौ.ढता आपके भीतर है? यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रौ.ढ हो तो किसी के भी अनुगमन का सवाल नहीं है। क्या बाल-बुद्धि के कारण ही अनुगमन, अनुयायी, शिष्य और गुरु पैदा नहीं होते हैं? और स्मरण रहे कि अनुगमन करनेवाली बुद्धि अप्रौ.ढ तो होती ही है, अंधी भी होती है।
उस वृद्ध बालक को मैंने क्या कहा था?
मैंने कहा थाः "मित्र, जो किसी और जैसा बनना चाहता है, वह स्वयं को खो देता है। प्रत्येक बीज अपने वृक्ष को स्वयं में लिए हुए है, और ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति भी। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होने का मार्ग नहीं है। हां, अन्यथा होने की चेष्टा में यह जरूर हो सकता है कि व्यक्ति वह न हो पाए जो हो सकता था। उसे खोजो जो तुम हो, और उसी खोज में से उसका विकास होता है जो तुम हो सकते हो। इसके अतिरिक्त किसी के लिए कोई आदर्श नहीं है। आदर्शों के नाम पर व्यक्ति स्वयं के विकास-पथ से भटके हैं, कहीं पहुंचे नहीं। आदर्शों की आड में मुझे आत्महत्याएं दिखाई पडती हैं, और आत्महत्याएं ही तो होंगी। मैं जब भी किसी और जैसा होने में लगूंगा, तो क्या करूंगा? स्वयं को मारूंगा, स्वयं को दबाऊंगा, स्वयं से घृणा करूंगा। आत्म-हत्या होगी और होगा पाखंड। क्योंकि, जो मैं नहीं हूं, वह होने का, वह दीखने का, उसे प्रदर्शित करने का अभिनय होगा। व्यक्तित्व में दुई पैदा हुई कि पाखंड आया। जहां व्यक्तित्व में स्व-विरोधी आरोपण है, वहीं असत्य है, वहीं अधर्म है। यह स्वाभाविक है कि ऐसी अस्वाभाविक चेष्टा दुख लाए, चिंता और संताप लाए। इस भांति के तनावों की अति ही मनुष्य में नरक बन जाती है। स्वयं के सत्य और स्वयं की संभावनाओं के साक्षात से ही जो आदर्श जन्मता है, और उसकी छाया की भांति ही जो अनुशासन सहज आता है, उसके सिवाय सभी कुछ व्यक्ति को कुरूप और अपंग करता है। बाहर से आए आदर्श और अनुशासन के चैखटे आत्महिंसा लाते हैं। इसीलिए मैं कहता हूंः स्वयं को खोजो और स्वयं को पाओ। परमात्मा के द्वार पर केवल उन्हीं का स्वागत है जो स्वयं जैसे हैं। उस द्वार से राम तो निकल सकते हैं, लेकिन रामलीला के राम का निकलना संभव नहीं है। और जब भी कोई बाह्य आदर्शों से अनुप्रेरित हो स्वयं को ढालता है, तो वह रामलीला का राम ही बन सकता है। यह दूसरी बात है कि कोई उसमें ज्यादा सफल हो जाता है, कोई कम! लेकिन अंततः जो जितना ज्यादा सफल है, वह स्वयं से उतनी ही दूर निकल जाता है। रामलीला के रामों की सफलता वस्तुतः स्वयं की विफलता ही है। राम को, बुद्ध को या महावीर को ऊपर से नहीं ओ.ढा जा सकता। जो ओ.ढ लेता है, उसके व्यक्तित्व में न संगीत होता है, न स्वतंत्रता, न सौंदर्य, न सत्य। परमात्मा उसके साथ वही व्यवहार करेगा, जो स्मार्टा के एक बादशाह ने उस व्यक्ति के साथ किया था जो बुलबुल-जैसी आवाजें निकालने में इतना कुशल हो गया था कि मनुष्य की बोली उसे भूल ही गई थी। उस व्यक्ति की बडी ख्याति थी और लोग, दूर-दूर से उसे देखने और सुनने जाते थे। वह अपने कौशल का प्रदर्शन बादशाह के सामने भी करना चाहता था। बडी कठिनाई से वह बादशाह के सामने उपस्थित होने की आज्ञा पा सका। उसने सोचा था कि बादशाह उसकी प्रशंसा करेंगे और पुरस्कारों से सम्मानित भी। अन्य लोगों द्वारा मिली प्रशंसा और पुरस्कारों के कारण उसकी यह आशा उचित ही थी। लेकिन

बादशाह ने उससे क्या कहा? बादशाह ने कहाः महानुभाव, मैं बुलबुल को ही गीत गाते सुन चुका हूं, मैं आपसे बुलबुल के गीतों को सुनने की नहीं, वरन उस गीत को सुनने की आशा और अपेक्षा रखता हूं, जिसे गाने के लिए आप पैदा हुए हैं। बुलबुलों के गीतों के लिए बुलबुलें ही काफी हैं। आप जाएं और अपने गीत को तैयार करें और जब वह तैयार हो जाए तो आवें। मैं आपके स्वागत के लिए तैयार रहूंगा और आपके लिए पुरस्कार भी तैयार रहेंगे।"
निश्चय ही जीवन दूसरों की नकल के लिए नहीं, वरन स्वयं के बीज में जो छिपा है, उसे ही वृक्ष बनाने के लिए है। जीवन अनुकृति नहीं, मौलिक सृष्टि है।

धर्म में विज्ञापन की क्या आवश्यकता?

एक मंदिर निर्मित हो रहा है। मैं उसके पास से निकलता हूं तो सोचता हूंः मंदिर तो बहुत हैं। शायद उनमें जानेवाले ही कम पडते जाते हैं। लेकिन फिर यह नया मंदिर क्यों बन रहा है? और यही अकेला भी तो नहीं है। और भी मंदिर बन रहे हैं। रोज ही नये मंदिर बन रहे हैं। मंदिर बनते जाते हैं और मंदिरों में जाने वाले घटते जाते हैं। इसका रहस्य क्या है? बहुत खोजता रहा, लेकिन राज हाथ नहीं आता था। फिर उस मंदिर को बनाने वाले एक वृद्ध कारीगर से पूछा। सोचा, शायद नये-नये मंदिरों के बनते जाने का रहस्य उसे ज्ञात हो, क्योंकि उसने तो बहुत से मंदिर बनाए हैं?
वह वृद्ध मेरा प्रश्न सुन हंसने लगा और फिर मुझे मंदिर के पीछे ले गया, जहां पत्थरों पर काम हो रहा था। वहां भगवान की मूर्तियां भी बन रही थीं। मैंने सोचा कि शायद वह कहेगा कि भगवान की इन मूर्तियों के लिए मंदिर बन रहा है, लेकिन इससे तो मेरी जिज्ञासा शांत नहीं होगी, क्योंकि तब प्रश्न होगा कि भगवान की ये मूर्तियां क्यों बन रही हैं? लेकिन नहीं, मैं भूल में था। उसने मूर्तियों की कोई बात ही नहीं उठाई। वह तो उन्हें छोड आगे ही बढ़ता गया। सबसे अंत में, सबसे पीछे कुछ कारीगर एक पत्थर पर काम कर रहे थे। उस वृद्ध ने उस पत्थर को दिखा कर मुझे कहाः "इसके लिए मंदिर बन रहा है और इसके लिए ही सदा मंदिर बनते रहे हैं।" मैं तो अवाक ही रह गया और अपनी बुद्धिहीनता पर पछताने लगा। अरे! यह पहले ही मैं स्वयं क्यों न सोच सका? उस पत्थर पर मंदिर बनानेवाले का नाम खोदा जा रहा था।
यह सोचता हुआ घर लौटता था कि मार्ग में एक जुलूस मिला। किसी ने संसार छोड संन्यास ले लिया है। उसके स्वागत में जुलूस निकल रहा है। मैं भी राह के किनारे खडा हो देखने लगा। जिन्होंने संन्यास लिया है, उनके चेहरे को, उनकी आंखों को देखता हूं। उनकी आंखों में तो संन्यासी की शून्यता कहीं भी नहीं है। उनमें तो वही दर्प है, वही अस्मिता है, जो राजनेताओं की आंखों में होती है। लेकिन हो सकता है कि मैं भूल में होऊं या उस बू.ढे कारीगर की बात का असर ही काम कर रहा हो। लेकिन और संन्यासियों को भी तो मैं जानता हूं। अहंकार के जिस सूक्ष्म रूप के दर्शन उनमें होते हैं, वैसे दर्शन अन्यत्र तो दुर्लभ ही हैं। शायद मनुष्य के मन से जो भी क्रिया फलित होती है, वह अहंकार के ऊपर नहीं जा सकती है। मन से मुक्त हुए बिना अहंकार से भी मुक्ति नहीं है।
थोडे ही दिन हुए हैं, एक मित्र ने दस दिन के उपवास किए थे। उन उपवासों
का ढिंढोरा पीटने में उनकी आकुल उत्सुकता देख मुझे हैरानी हुई थी। लेकिन नहीं, वह मेरी ही भूल थी। उस बू.ढे कारीगर ने तो आज मेरी जीवन भर की भूलें ही उघाड कर रख दी हैं। उपवासों के बाद उन मित्र का बडा स्वागत-सत्कार हुआ था। मैं भी उसमें उपस्थित था। वहां एक बंधु मेरे कान में बोले थेः "स्वागत-समारोह का सारा खर्च बेचारे ने स्वयं ही उठाया है!" उस दिन तो मैं चैंका था, लेकिन आज उस बू.ढे के कारण ज्यादा समझदार हूं और चैंकने का कोई भी कारण दिखाई नहीं पडता है। उल्टे एक विचार बार-बार मन में आता है कि जब संसार में विज्ञापन हितकर है, तो स्वर्ग में क्यों नहीं होगा? क्या स्वर्ग के नियम भी संसार-जैसे ही नहीं होंगे? आखिर संसार जिस चित्त से निर्मित है, स्वर्ग

भी तो उसी की उत्पत्ति है? स्वर्ग की कामना, कल्पना क्या सांसारिक मन की ही वासना नहीं है? फिर यह परमात्मा क्या है? क्या मनुष्य-मन का आविष्कार ही नहीं है? वह भी तो अपमान से अपमानित और क्रोधित होता है और प्रतिशोध से शत्रुओं को नरकाग्नि में जलाता है। वह भी तो स्तुति से प्रसन्न होता है और भक्तों को कष्टों से बचाता है और उन पर सुखों की वर्षा करता है। यह सब क्या मनुष्य-मन का ही प्रतिफलन नहीं है? फिर उसके लोक में विज्ञापन क्यों कारगर नहीं हो सकता है? वह भी तो प्रसिद्धि को ही प्रमाण मानता होगा? आखिर उसके पास भी मनुष्य की माप का और क्या उपाय हो सकता है?
एक संन्यासी से मैंने यही कहा तो वे बहुत नाराज हुए और बोलेः "यह सब क्या आप सोचते रहते हैं? धर्म में विज्ञापन की क्या आवश्यकता? यह सब तो अहंकार का खेल है। यह सब उसी की माया है। अज्ञान में जीवन अहंकार में पडा रहता है।" उन्होंने जब यह कहा तो मैंने मान लिया। त्याग से ज्ञान मिलता है, और उन्होंने तो सभी कुछ त्याग दिया है। जरूर ही उन्हें ज्ञान मिल गया होगा। अब उनकी बात पर संदेह करना संभव ही कैसे था? लेकिन थोडे ही समय में उन्होंने दो-चार बार याद दिला दी कि वे लाखों रुपयों की संपत्ति पर लात मार कर संन्यासी हुए हैं, अर्थात वे कोई छोटे-मोटे संन्यासी नहीं हैं। त्याग का माप भी तो धन ही है! मैंने उनसे पूछाः "यह लात आपने कब मारी?" वे बोलेः "कोई 25-30 वर्ष हुए।" उस समय उनकी आंखों की चमक देखने ही योग्य थी। कहा भी है कि त्याग से आंखों में तेज आ जाता है। मैंने डरते-डरते उनसे निवेदन किया कि महाराज, लात शायद ठीक से लग नहीं पाई, नहीं तो 30 वर्ष बाद भी क्या उसकी स्मृति इतनी हरी हो सकती थी? जिस बात से डर था, आखिर वही हो गई। उनका क्रोध फूट पडा। लेकिन यह सोच मैंने मन में धीरज धरा कि यह तो ऋषि- मुनियों की पुरानी आदत है। किसी भांति का अभिशाप उन्होंने नहीं दिया, यही क्या कम दया है?
उनसे जाते-जाते मैंने एक कथा कही थी। वह आपसे भी कहता हूं। उस पर खूब सोचना। उसमें बहुत अर्थ है।
एक धनपति ने श्रीनाथजी को दस हजार स्वर्णमुद्राएं अर्पित कीं। लेकिन
वह उन मुद्राओं को मूर्ति के समक्ष एक दिन गिन-गिन कर रखने लगा। वह जोर से थैलियों में से उन्हें निकालता और खूब खनखनाहट होती। खनखनाहट सुन मंदिर में भीड हो गई। वह और भी आवाज कर के मुद्राएं गिनने लगा। जैसे-जैसे भीड बढ़ती, उसके त्याग का आनंद भी बढ़ता जाता था। आखिर जब वह सारी मुद्राएं गिन चुका और उसने गौरव से वहां इकट्ठे लोगों की तरफ देखा तो पुजारी ने उससे कहाः "बंधु, ये मुद्राएं वापस ले जाओ। श्रीनाथ जी ऐसी भेंट स्वीकार नहीं करेंगे।" धनपति हैरान हुआ। उसने पूछाः "क्यों महाराज?" पुजारी ने कहाः "प्रेम क्या व्यक्त किया जा सकता है? प्रार्थना क्या व्यक्त करने की वस्तु है? लेकिन तुम्हारे हृदय में तो विज्ञापन की वासना है। ऐसी वासना समर्पण में असमर्थ है। ऐसी वासना त्याग में असमर्थ है। ऐसी वासना प्रेम के लिए अपात्र है।"

"मैं" एक असत्य है

मैं स्वयं को ब्रह्म में लीन करना चाहता हूं। अहंकार ही दुख है। मैं
इस अहंकार को परमात्मा में समर्पित करना चाहता हूं। मैं क्या करूं?" एक भक्त ने अत्यंत व्याकुलता से मुझ से पूछा था। उन्हें मैं जानता हूं। वर्षों से वे भगवान के मंदिर में ही बैठे रहते हैं। भगवान के चरणों में घंटों सिर रखे रोते रहते हैं। उनकी अभीप्सा तो तीव्र है, लेकिन दिशा भ्रांत है। क्योंकि जो व्यक्ति "मैं" को स्वीकार कर लेता है, वह उस स्वीकृति के कारण ही "मैं" बन जाता है। फिर इस "मैं" से पीडा आती है तो वह इससे छूटना चाहता है और भगवान की शरण में समर्पित होना चाहता है, लेकिन इस खोज और समर्पण का केंद्र बिंदु भी वह "मैं" ही होता है। क्योंकि, जो समर्पण करना चाहता है, वह कौन है? जो दुख से, पीडा से, छूटना चाहता है, वह कौन है? क्या वह "मैं" ही नहीं है? परमात्मा के लिए, परमानंद के लिए, मोक्ष के लिए

यह आतुरता-व्याकुलता किसकी है? वह कौन है जो संसार में दौडाता है और फिर मुक्ति के लिए भी उत्तप्त करता है? क्या वह "मैं" ही नहीं है?
मैं पूछता हूं कि क्या यह संभव है कि मैं स्वयं को ही छोड सकूं--स्वयं
का ही समर्पण कर सकूं? क्या मेरा छोडना भी "मेरा" ही छोडना न होगा? क्या मेरा समर्पण भी "मेरा" ही समर्पण नहीं है? और जो "मेरा" है, उससे ही तो मेरा "मैं" निर्मित होता है। मेरा धन, मेरा पद, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे ही "मैं" को नहीं बनाते हैं; मेरा संन्यास, मेरा त्याग, मेरा समर्पण, मेरी सेवा, मेरा धर्म, मेरी आत्मा, मेरा मोक्ष भी "मैं" को ही बनाते हैं। जहां तक कुछ भी "मेरा" शेष है, वहां तक "मैं" भी पूर्णरूपेण अक्षुण्ण है।
"मैं" की प्रत्येक क्रिया, पाप या पुण्य, भोग या त्याग, "मैं" को ही पुष्ट करती है। साधना या समर्पण सभी से वह संगठित और सशक्त होता है।
क्या "मैं" को छोडने का कोई उपाय नहीं है? क्या "मैं" के त्याग की कोई विधि नहीं है? "मैं" को छोडने, त्यागने या समर्पित करने का न कोई उपाय है, न विधि है, क्योंकि जो भी किया जा सकता है, वह सब अंततः "मैं" के लिए ही प्राणप्रद सिद्ध होता है। कर्म के द्वारा, क्रिया के द्वारा, संकल्प के द्वारा, "मैं" के बाहर न कोई कभी गया है और न जा सकता है, क्योंकि संकल्प स्वयं ही सूक्ष्म रूप में "मैं" है। संकल्प "मैं" का ही कच्चा रूप है। वही तो पक कर "मैं" बनता है। "मैं" संकल्प की ही तो घनीभूत दशा है। इसलिए, संकल्प से "मैं" को कैसे छोडा जा सकता है? और हमारी साधनाएं क्या हैं? हमारे समर्पण क्या हैं? क्या वे सब संकल्प के ही विस्तार नहीं हैं?
"मैं" के ही द्वारा "मैं" से मुक्ति के उपाय वैसे ही मूढ़तापूर्ण हैं, जैसे स्वयं के ही जूतों के फीतों को पकड कर स्वयं को ऊपर उठाने की चेष्टा हो सकती है। वस्तुतः "मैं" को छोडा ही नहीं जा सकता है। क्योंकि यदि वह है तो और जो है, वह नहीं हो सकता है। और यदि वह नहीं है, तो नहीं है, और तब उसके नहीं होने का सवाल ही नहीं है। इसलिए उचित है कि "मैं" को जाना जाए। मैं कहता हूंः समर्पण नहीं, ज्ञान। साधना नहीं, ज्ञान। त्याग नहीं, ज्ञान। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यही है कि साधना से, समर्पण से जहां वह और समृद्ध होता है, वहां ज्ञान से वह पाया ही नहीं जाता है!
"मैं" को उसकी समग्रता में जान लेना ही उससे मुक्त हो जाना है।
"मैं" को छोडा नहीं जा सकता है, क्योंकि वस्तुतः वह है नहीं। और जो नहीं है, उसे छोडने के लिए व्यर्थ ही और असत्य आविष्कृत करने पडते हैं। "मैं" एक असत्य है। उसे त्यागने के लिए "समर्पण" का एक दूसरा असत्य निर्मित करना होता है। फिर "समर्पण" के असत्य के लिए एक "परमात्मा" की कल्पना भी करनी होती है। लेकिन, ऐेसे असत्य से मुक्ति नहीं होती, उल्टे और बडे असत्यों का सृजन होता जाता है।
एक साधु था। उसे राह के किनारे पडा एक अनाथ बालक मिल गया। साधु ने उसे पाला-पोसा, बडा किया। साधु के झोपडे के पीछे ही मरघट था और वह बालक था अतिचंचल। वह दिन में, रात्रि में कभी भी मरघट पर चला जाता था। वह मरघट पर न जाए, इसलिए साधु ने उससे कहाः "अंधेरे में कभी वहां मत जाना, वहां भूत रहते हैं जो मनुष्य को खा जाते हैं।" स्वभावतः उस दिन से वह बालक मरघट से डरने और बचने लगा। फिर वह गुरुकुल गया। वहां भी वह एकांत और अंधेरे से भय खाता था। वर्षों बाद वह पुनः घर लौटा। अब वह युवा हो गया था, लेकिन उसके साथ ही साथ उसका भय भी युवा हो गया था। एक रात्रि साधु ने उसे मरघट पार कर गांव में किसी काम से जाने को कहा। लेकिन वह युवक रात्रि में मरघट पार करने के ख्याल से ही कांपने लगा और बोलाः "मैं अंधेरे में वहां कैसे जा सकता हूं? वहां तो भूत-प्रेत हैं न जो मनुष्य को खा जाते हैं?" साधु हंसा और उसने उसकी भुजा पर एक ताबीज बांध कर कहाः "जा, अब भूत-प्रेत तेरा कुछ भी नहीं बिगाड सकते। इस ताबीज के कारण भगवान सदा तेरी रक्षा के लिए साथ रहेंगे। भगवान के कारण अब भूत तेरे सामने भी नहीं आ सकते हैं।" भगवान को साथ पा भूतों से क्या डर हो सकता था? वह युवक गया और मरघट में भूतों को न पाकर उसके समक्ष भगवान की शक्ति सहज ही प्रमाणित हो गई! इस भांति भूत तो गए, लेकिन भगवान आ गए। पर भूतों को भगवाने के लिए जो भगवान लाए गए थे वे स्वभावतः बडे भूत ही तो हो सकते थे! वह युवक अब भगवान के सहारे भूतों से तो बच कर निकल जाता था, लेकिन ताबीज को एक क्षण भी स्वयं से दूर नहीं कर सकता

था! अब भूतों तक को डरानेवाले भगवान से उसका स्वयं का भयभीत होना भी अपरिहार्य था। वह डरता था कि कहीं भगवान उसके किसी दोष, पाप या अपराध के कारण उसका साथ न छोड दें, नहीं तो फिर भूत-प्रेत उससे भलीभांति बदला लेंगे। इससे वह भगवान की पूजा-प्रार्थना भी करता था। उनकी स्तुति तो करता ही, साथ ही पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधियों और दलालों से भयभीत होना पडता था। साधु यह सब देख बहुत घबडाया। उसका इलाज तो और महारोग सिद्ध हुआ था। ऐसे भगवान से तो बेचारे भूत-प्रेत ही अच्छे थे। वे तो रात्रि के अंधेरे में मरघट में ही सताते थे, लेकिन ये भगवान तो दिन के उजाले में भी पीछा कर रहे थे। एक अमावस की रात्रि में साधु ने युवक की बांह से झटका देकर ताबीज तोड डाला और उसे सामने जल रही अंगीठी में फेंक दिया। युवक तो थर-थर कांपने लगा और उसका चेहरा एकदम पीला पड गया। वह तो मूच्र्छित ही हो जाता, लेकिन साधु ने उसे संभाला और भूतों के जन्म और फिर भगवान के आविष्कार की सारी कथा उसे बताई। वह थोडा आश्वस्त हुआ तो उसे लेकर साधु मरघट में गया। उन्होंने मरघट का कोना-कोना छान डाला। युवक हैरान हुआ, वहां तो कोई भूत-प्रेत थे ही नहीं। इस प्रकार भूत भी गए और भगवान भी गए। वह युवक स्वस्थ हुआ और भय-मुक्त हुआ। वस्तुतः भूत-प्रेतों और उनके आवास को ठीक से खोज लेना ही उनसे मुक्त हो जाना है।
"मैं" पीडा देता है, संताप लाता है, चिंता जन्माता है, मृत्यु की असुरक्षा और भय उपजाता है, इसलिए उससे बचने को भगवान के प्रति समर्पण आविष्कृत होता है। उसके भय से ही भगवान और भक्ति की उत्पत्ति होती है, जब कि "मैं" है ही नहीं, जब तक उसे नहीं खोजा और नहीं जाना, तभी तक वह है। अज्ञान के अतिरिक्त उसकी और कोई सत्ता ही नहीं है। और जो है ही नहीं, उसका समर्पण कैसा? जब भूत हैं ही नहीं, तो बचाव किससे? भूत हैं, इसलिए भगवान की जरूरत है। "मैं" है, इसलिए समर्पण की जरूरत है। "मैं" के भूत को खोजो, उससे बचाव के लिए गंडे-ताबीजों को नहीं खोजो। जाओ स्वयं के भीतर और खोजो कि यह "मैं" कहां है? जैसे ही खोजोगे, पाओगे कि वह नहीं है। मरघट भूतों से खाली है। स्वयं की सत्ता "मैं" से शून्य है, वही परमात्मा है। और तब जो अनुभव में आता है, वही समर्पण है; और तब जिसकी उपस्थिति है, वही ब्रह्म है।

धर्म विश्वास नहीं, विवेक है

एक बुढ़िया बहुत बीमार थी। घर में वह अकेली थी इसलिए बहुत कठिनाई में पडी थी। एक दिन सुबह-सुबह ही दो अत्यंत भद्र और धार्मिक दीखनेवाली महिलाएं उसके पास आईं। उनके माथों पर चंदन था और हाथों में रुद्राक्ष की मालाएं। उन्होंने आकर उस बुढ़िया की सेवा शुरू कर दी और कहाः "परमात्मा की प्रार्थना से सब ठीक हो जाएगा। विश्वास शक्ति है और विश्वास कभी निष्फल नहीं जाता है।" उस सीधी बुढ़िया ने उनकी बातों पर विश्वास कर लिया। वह अकेली थी और अकेला व्यक्ति किसी पर विश्वास करना चाहता है। वह पीडा में थी और पीडा में मनुष्य का मन सहज ही विश्वासी हो जाता है। उन अपरिचित महिलाओं ने दिन भर उसकी सेवा की। सेवा और दिन भर की धार्मिक बातों के कारण बुढ़िया का विश्वास और भी ब.ढ गया। फिर रात्रि में उन महिलाओं के निर्देशानुसार वह एक चादर ओ.ढ कर भूमि पर लेटी, ताकि उसके स्वास्थ्य के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जा सके। धूप जलाई गई। सुगंध छिडकी गई। एक महिला उसके सिर पर हाथ रख कर अबूझ मंत्रों का उच्चार करने लगी, और फिर मंत्रों की एक सुरीली ध्वनि दे बुढ़िया को थोडी ही देर में सुला दिया। आधी रात को उसकी नींद खुली। घर में अंधकार था। उसने दीया जलाया तो पाया कि वे अपरिचित महिलाएं न मालूम कब की चली गई हैं। घर के द्वार खुले पडे हैं और उसकी तिजोरी भी टूटी पडी है। विश्वास अवश्य ही फलदायी हुआ था। बुढ़िया को तो नहीं, लेकिन उन धूर्त महिलाओं को। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि विश्वास सदा ही धूर्तों को फलदायी हुआ है।
धर्म विश्वास नहीं, विवेक है। वह अंधापन नहीं, आंखों का उपचार है।

किंतु शोषण के लिए विवेक बाधा है और इसीलिए विश्वास का विष पिलाया जाता है।
विचार विद्रोह है और चूंकि विद्रोही का शोषण असंभव है, इसीलिए विश्वास की शिक्षा दी जाती है।
विचार व्यक्ति को मुक्त करता है, उसे व्यक्ति बनाता है। लेकिन शोषण
के लिए तो भेडें चाहिए, भीड का अनुगमन करनेवाले दुर्बल चित्त व्यक्ति चाहिए। इसीलिए विचार की हत्या की जाती है और विश्वास पाला-पोसा जाता है। मनुष्य असहाय है, इसीलिए असहायावस्था में, अकेलेपन में, विश्वास के लिए तैयार हो जाता है।
जीवन दुख है, इसीलिए दुख से पलायन करने के लिए किसी भी विश्वास और आस्था के प्रति शरणागत हो जाता है।
यह स्थिति शोषकों के लिए, स्वार्थियों के लिए निश्चय ही स्वर्ण-अवसर
बन जाती है। धर्म धूर्तों के हाथों में है, इसीलिए ही तो जगत में अधर्म है। धर्म की जब तक विश्वास से मुक्ति नहीं होगी, तब तक वास्तविक धर्म का जन्म नहीं हो सकता है।
धर्म जब विवेक की अग्नि से संयुक्त होता है, तब उससे स्वतंत्रता, सत्य
और शक्ति का उदभव होता है। धर्म शक्ति है, क्योंकि विचार शक्ति है। धर्म प्रकाश है, क्योंकि प्रज्ञा प्रकाश है। धर्म मुक्ति है, क्योंकि विवेक मुक्ति है।

आंखें होते हुए भी क्या हम अंधे नहीं हो गए हैं?

धर्म, धर्म, धर्म। धर्म का कितना विचार चलता है, लेकिन परिणाम क्या है? मैं जिसे सुनता हूं, वही शास्त्र- उद्धृत करता है, लेकिन परिणाम क्या है?
मनुष्य निरंतर दुख और पीडा में डूबता जा रहा है, और हम हैं कि अपने सीखे हुए सिद्धांत दुहराए जा रहे हैं।
जीवन प्रतिक्षण पशुता की ओर झुकता जा रहा है और हम हैं कि पत्थरों के पुराने मंदिरों में सदा की भांति सिर झुकाए चले जा रहे हैं।
शब्द--मृत शब्दों में हम इतने घिरे हैं कि शायद सत्य को देखने की क्षमता ही हमने खो दी है।
शास्त्रों से चित्त हमारा इतना आबद्ध है कि स्वयं अनुसंधान में जाने
का सवाल ही नहीं उठता है।
और, शायद इसीलिए विचार और आचार के बीच अलंघ्य खाई खुद गई है। और, शायद इसीलिए जो हम कहते हैं कि हम चाहते हैं, ठीक उसके विपरीत ही हम जीए जाते हैं। और, आश्चर्य तो यह है कि यह विरोधाभास हमें दिखाई भी नहीं पडता है! आंखें होते हुए भी क्या हम अंधे नहीं हो गए हैं?
मैं इस जीवन स्थिति पर सोचता हूं तो दिखाई पडता है कि जो सत्य स्वयं
ही उपलब्ध न किए गए हों, वे ऐसी ही उलझन में ले जाते हैं।
सत्य स्वयं से आवे तो मुक्त करता है और स्वयं से न आवे तो और भी गहरे बंधनों में बांध देता है। सिखाए हुए सत्यों से अधिक असत्य और कुछ भी नहीं होता है।
और, ऐसे उधार सत्य, जीवन में अत्यंत पीडादायी स्वविरोध पैदा करते हैं।
एक पहाडी सराय में एक पाला हुआ तोता था। उसके मालिक ने जो उसे सिखाया
था, वह उसी को दिन-रात दुहराया करता था। वह कहा करता थाः "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" एक यात्री उस सराय में पहली बार ठहरा था। उस तोते की वेदना भरी वाणी उसके मर्म को छू लेती थी। वह भी अपने देश की स्वतंत्रता के युद्ध में अनेक बार कैद में रह चुका था। और तोता जब उस पहाडी के सन्नाटे को तोड कर कहताः "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता," तो उसके हृदय के तार झनझना उठते थे। उसे अपने कैद के दिनों की स्मृति हो आती और स्मरण हो आता कि ऐसे ही तो उसकी अंतरात्मा भी चिल्लाती थीः

"स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" रात्रि हो गई तो वह यात्री उठा और उसने स्वतंत्रता के आकांक्षी उस तोते को उसकी कैद से मुक्त करना चाहा। यात्री तोते को उसके पिंजडे से बाहर खींचता था, लेकिन तोता निकलने को राजी नहीं होता था। इसके विपरीत अपने सींकचों को पकड कर वह चिल्लाता थाः "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" बडी मुश्किल से वह यात्री तोते को बाहर निकाल पाया। उसे आकाश में उडा कर वह निशिं्चत हो सो गया। लेकिन सुबह उठ कर ही उसने देखा कि तोता अपने पिंजडे में आनंद से बैठा है और चिल्ला रहा हैः "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।"

प्रेम और प्रज्ञा

एक घटना मैंने सुनी है। युद्ध के दिन थे और अचानक बमबारी शुरू हो गई थी। किसी निर्जन रास्ते पर एक धर्म-पुरोहित कहीं जा रहा था। उसने जल्दी से भाग कर पास में ही बनी लोमडियों की एक गुफा में शरण ली। जैसे ही वह भीतर पहुंचा, उसने देखा कि एक सैनिक अफसर पहले ही से वहां छिपा हुआ है। वह सैनिक अफसर एक कोने में हट गया, ताकि नये आगंतुक के लिए जगह हो सके। तब पास में ही बम गिरने लगे। पुरोहित के हाथ-पैर कंपने लगे। उसने घुटने टेक कर परमात्मा से प्रार्थना शुरू कर दी। वह बहुत जोर-जोर से प्रार्थना कर रहा था। उसने बीच में आंख उठा कर देखा तो पाया कि वह सैनिक अफसर भी उसी की भांति जोर-जोर से प्रार्थना कर रहा है। फिर जब आक्रमण बंद हो गया तो धर्म-पुरोहित ने उस सैनिक अफसर से पूछाः "बंधु, मैंने देखा कि आप भी प्रार्थना कर रहे थे!" वह सैनिक अफसर हंसने लगा और बोलाः "महानुभाव, लोमडियों की गुफाओं में नास्तिक कहां?"
क्या तुम भी तो भय के कारण ही भगवान की खोज नहीं कर रहे हो? क्या तुम्हारी प्रार्थनाएं भी तो भय पर ही आधारित नहीं हैं?
स्मरण रहे कि भय पर प्रतिष्ठित धर्म, सत्य धर्म नहीं है।
मैं भयभीत आस्तिक की बजाय भय-शून्य नास्तिक को ही पसंद करता हूं, क्योंकि भय से भगवान तक पहुंचना असंभव है।
सत्य को पाने की पहली शर्त तो अभय है।
विचार तो करोः क्या भय कभी प्रेम बन सकता है? और यदि भय प्रेम नहीं बनता तो प्रार्थना कैसे बनेगा?
प्रार्थना तो प्रेम की ही पूर्णता है। किंतु, मनुष्य के द्वारा बनाए
गए सभी मंदिरों की बुनियादों में भय की ईंटें हैं और भय के द्वारा ग.ढा हुआ भगवान भय की भावनाओं से ही निर्मित है।
इसलिए ही तो हमारा सभी कुछ असत्य हो गया है। क्योंकि जिनका भगवान ही सत्य नहीं है, उनका और क्या सत्य हो सकता है?
और जिनका प्रेम असत्य है, जिनकी प्रार्थना असत्य है, यदि उनके प्राण
ही असत्य हो गए हों तो आश्चर्य कैसा?
प्रेम से--केवल प्रेम से--ही प्रार्थना सत्य होती है।
और ज्ञान से--केवल ज्ञान से--ही उसे जाना जाता है जो कि वस्तुतः है। मैं कहता हूं प्रेम करो, क्योंकि प्र्रेम की प्रगा.ढता ही जीवन को प्रार्थना में परिणत कर देती है। मैं कहता हूं स्वयं की प्रज्ञा को जगाओ, क्योंकि उसका जागरण ही परमात्मा का दर्शन है।
प्रेम और प्रज्ञा--जो इन दो बीज-मंत्रों को समझ लेता है, वह सब समझ जाता है, जो समझना चाहिए और जो समझने योग्य है और जो समझा जा सकता है।
परमात्मा का मंदिर कहां है? जब कोई मुझसे पूछता है तो मैं कहता हूं प्रेम में और प्रज्ञा में।
निश्चय ही प्रेम परमात्मा है, प्रज्ञा परमात्मा है।

शास्त्रों से पाए हुए ज्ञान का यहां कोई मूल्य नहीं है

एक दिन स्वर्ग के द्वार पर बडी भीड थी। कुछ पंडित चिल्ला रहे थेः "जल्दी द्वार खोलो।" लेकिन द्वारपालों ने उनसे कहाः "थोडा ठहरिए। हम आपके संबंध में पता लगा लें कि जो ज्ञान आपने पाया, वह शास्त्रों से पाया था या स्वयं से। क्योंकि शास्त्रों से पाए हुए ज्ञान का यहां कोई मूल्य नहीं है।"
इतने में ही एक संन्यासी भीड के आगे आया और बोलाः "द्वार खोलो। मैं स्वर्ग में प्रवेश पाना चाहता हूं। मैंने बहुत उपवास किए और शारीरिक कष्ट सहे। मेरे समय में मुझसे बडा और कौन तपस्वी था?"
द्वारपालों ने कहाः "स्वामी जी, थोडा ठहरिए। हम पता लगा लें कि तपश्चर्या आपने क्यों की थी? क्योंकि जहां कुछ भी पाने की आकांक्षा है, वहां न त्याग है न तप है।"
और तभी जनता के कुछ सेवक आ गए। वे भी स्वर्ग में प्रवेश चाहते थे। द्वारपालों ने उनसे कहाः "आप भी बडी भूल में पड गए हैं। जो सेवा पुरस्कार मांगती है, वह सेवा ही नहीं है। फिर भी हम आपके संबंध में पता लगा लेते हैं।"
और तभी द्वारपालों की दृष्टि सबसे पीछे अंधेरे में खडे एक व्यक्ति पर गई। उन्होंने भीड से उस व्यक्ति को आगे आने के लिए मार्ग देने को कहा। उस व्यक्ति की आंखों से आंसू गिर रहे थे। उसने कहाः "निश्चय ही भूल से मुझे यहां ले आया गया है। कहां मैं और कहां स्वर्ग? मैं हूं निपट अज्ञानी। शास्त्रों को बिल्कुल नहीं जानता हूं। संन्यास से बिल्कुल अपरिचित हूं, क्योंकि मेरा कुछ था ही नहीं तो मैं त्याग क्या करता? और सेवा? सेवा मैंने कभी नहीं की। उतनी मेरी सामथ्र्य ही कहां? प्रेम जरूर मेरे हृदय से बहता था। लेकिन प्रेम तो स्वर्ग-प्रवेश की कोई योग्यता नहीं है। फिर मैं स्वयं भी स्वर्ग में प्रवेश नहीं करना चाहता हूं। कृपा करें और बतावें कि नरक का द्वार कहां है। शायद, वहीं मेरा स्थान भी है और वहीं मेरी आवश्यकता भी है।" उसके यह कहते ही द्वारपालों ने स्वर्ग के द्वार खोल दिए और कहाः "मत्र्यों में आप धन्य हैं। आपने अमृतत्व की उपलब्धि कर ली। स्वर्ग के द्वार आपके लिए सदा ही खुले हैं। आपका स्वागत है।"
क्या जीवन में अंतिम होना ही परमात्मा की प्रार्थना नहीं है?
और क्या जीवन में अंतिम होना ही मोक्ष नहीं है?

सावधान और सचेत

एक पूर्णिमा की बात है। आधी रात थी और मैं मित्रों से घिरा एक झील में नौका पर था। चारों ओर चांदनी में नहाई हुई पहाडियां थीं। सब कुछ ऐसा सुंदर था कि विश्वास योग्य नहीं था। लगता था जैसे किसी मधुर स्वप्न में हों। नौका खेना छोड कर हम झील के बीच में ही ठहर गए थे। लेकिन मेरे मित्र वहां नहीं थे। वे ही अपने साथ मुझे वहां लाए थे, लेकिन वे स्वयं न मालूम कहां पीछे रह गए थे या आगे निकल गए थे। मैं उनसे घिरा हुआ भी उस झील पर अकेला था। क्योंकि वे न मालूम किन-किन बातों में खोए हुए थे। बातें या तो अतीत की थीं, जो अब नहीं था; या भविष्य की थीं, जो अभी नहीं था। लेकिन उनकी चेतना वहां नहीं थी, जहां वे थे। उस अ˜ुत झील और उस स्वप्निल रात्रि के प्रति उनकी उपस्थिति नहीं थी। जैसे वर्तमान उनके लिए था ही नहीं। और तभी उन्होंने पूछाः "क्या परमात्मा है?"
मैं उन्हें क्या उत्तर दूं, इस सोच में पड गया। क्योंकि, जिनका वर्तमान की जीवंतता से कोई संपर्क नहीं है, उनका परमात्मा से संबंध भी क्या और कैसे हो सकता है? जीवन ही तो परमात्मा है। जीवन की अनुभूति ही तो परमात्मा की अनुभूति है। फिर भी मैंने उनसे कहाः "मित्र, क्या यह झील है? क्या यह चांद है? क्या यह रात्रि है? और क्या हम इस पूरे चांद की अदभुत रात्रि में इस झील पर उपस्थित हैं?"

निश्चय ही वे चैंक गए थे और बोले थेः "हां! इसमें शक का सवाल ही क्या है?" लेकिन मैंने कहा थाः "नहीं, संदेह ही नहीं, मुझे तो विश्वास है कि आप यहां नहीं हैं। फिर से सोचें। शारीरिक अर्थों में जो उपस्थित है, वह जगत में पदार्थ-सत्ता का ही संवेदन पा सकता है, लेकिन जो अपनी समग्र चेतना से उपस्थित है, उसे तो अभी और यहीं परमात्मा की अनुभूति हो सकती है। परमात्मा है, लेकिन केवल उसके लिए जो उसके प्रति उपस्थित है, "जो है"।"
फिर एक घटना मुझे स्मरण आई और उसे मैंने उनसे कहाः
एक दफ्तर के बाहर कुछ व्यक्ति बैठे हुए थे। बेतार के यंत्र-संचालक के लिए उनमें से एक का चुनाव होना था। वे सभी आवेदक और उम्मीदवार जोर-जोर से व्यर्थ की चर्चाओं में डूबे हुए थे। तभी ध्वनिविस्तार पर धीरे-धीरे खट-खट की आवाजें आनी शुरू हुईं। लेकिन वे सब तो अपनी बातों में इतने व्यस्त और बेहोश थे कि उनका उन धीमे से संकेतों की ओर ध्यान जाना असंभव ही था। लेकिन एक युवक उन सबसे दूर एक कोने में अकेला ही बैठा था। वह एकदम से उठा और दफ्तर के भीतर चला गया। शेष सबने तो उसे उठते या दफ्तर के भीतर जाते भी नहीं देखा था। उसकी ओर उनका ध्यान तो तब गया था, जब वह मुस्कुराता हुआ नियुक्ति पत्र हाथ में लिए थोडी ही देर बाद दफ्तर से बाहर आया था। स्वभावतः ही वे सब इससे अवाक रह गए थे और क्रोध में उन्होंने उस युवक से पूछा थाः "महाशय, आप सबसे पहले भीतर कैसे गए? हम सब तो आपसे बहुत पहले से यहां मौजूद हैं! आप तो पंक्ति में अंतिम थे। और बिना हम सबका विचार किए आपकी नियुक्ति भी कैसे हो सकती है? यह कैसी धांधली है? यह कैसा अन्याय है?" इस पर वह युवक हंसने लगा था और बोला थाः "मित्रो, मेरा इसमें क्या दोष है? आपमें से किसी की भी नियुक्ति हो सकती थी और आप सब पर विचार करने के बाद ही मेरी नियुक्ति की गई है! क्या आपने ध्वनि-विस्तारक पर भेजे गए संदेश को नहीं सुना था?" वे सभी एक साथ ही बोले थेः "कैसा संदेश? कौन सा संदेश?" तब उस युवक ने उनसे कहा थाः "क्या आप बेतार की संकेत-भाषा से परिचित नहीं हैं? ध्वनिविस्तारक पर जो खट-खट की आवाजें आ रही थीं, उनके द्वारा अत्यंत स्पष्ट रूप से कहा गया थाः मैं एक ऐसे व्यक्ति को चाहता हूं, जो हमेशा सावधान और सचेत हो। जो व्यक्ति सबसे पहले इस संदेश को सुन कर दफ्तर में आएगा, उसके लिए, नियुक्ति-पत्र तैयार कर रखा गया है।"
परमात्मा के संदेशों की भी प्रतिक्षण वर्षा हो रही है। प्रकृति उसकी संकेत-भाषा है। मौन होकर, सावधान होकर जो व्यक्ति उन संकेतों के प्रति जागता है, वह उसके द्वारा निश्चय ही भीतर बुला लिया जाता है।

परमात्मा का छोड़ो, प्रेम को पाओ

क्या प्रेम ही परमात्मा नहीं है? क्या प्रेम में डूबा हुआ हृदय ही उसका मंदिर नहीं है? और, क्या जो प्रेम को छोड उसे कहीं और खोजता है, वह व्यर्थ ही नहीं खोजता है?
एक दिन यह मैं अपने से पूछता था। आज यही आपसे भी पूछता हूं।
परमात्मा को जो खोजता है, वह घोषणा करता है कि प्रेम उसे उपलब्ध नहीं हुआ है। क्योंकि जो प्रेम को उपलब्ध होता है, वह परमात्मा को भी उपलब्ध हो जाता है।
परमात्मा की खोज प्रेम के अभाव से पैदा होती है, जब कि प्रेम के बिना परमात्मा को पाना असंभव ही है।
परमात्मा को जो खोजता है, वह परमात्मा को तो पा ही नहीं सकता, प्रेम की खोज से अवश्य ही वंचित हो जाता है। किंतु जो प्रेम को खोजता है, वह प्रेम को पाकर ही परमात्मा को भी पा लेता है।
प्रेम मार्ग है। प्रेम द्वार है। प्रेम पैरों की शक्ति है। प्रेम प्राणों की प्यास है। अंततः प्र्रेम ही प्राप्ति है। वास्तव में प्रेम ही परमात्मा है।
मैं कहता हूंः परमात्मा को छोडो। प्रेम को पाओ। मंदिरों को भूलो।
हृदय को खोजो। क्योंकि, वह है तो वहीं है।

परमात्मा की यदि कोई मूर्ति है तो वह प्रेम है। लेकिन पाषाण-मूर्तियों में वह मूर्ति खो ही गई है। परमात्मा का कोई मंदिर है, तो वह हृदय है, लेकिन मिट्टी के मंदिरों ने उसे भलीभांति ढंक लिया है। परमात्मा उसकी ही मूर्तियों और मंदिरों के कारण खो गया है और उसके पुजारियों के कारण ही उससे मिलन कठिन है। उसके लिए गाई गई स्तुतियों और प्रार्थनाओं के कारण ही स्वयं उसकी ध्वनि को सुन पाना असंभव हो गया है। प्रेम आवे तो उसमें ही परमात्मा भी मनुष्य के जीवन में लौट कर आ सकता है। एक पंडित एक फकीर से मिलने गया था। उसके सिर पर शास्त्रों की इतनी बडी गठरी थी कि फकीर के झोपडे तक पहुंचते-पहुंचते वह अधमरा हो गया था। उसने जाकर फकीर से पूछाः "परमात्मा को पाने के लिए मैं क्या करूं?" लेकिन जिस गठरी को वह सिर पर लिए हुए था, उसे सिर पर ही लिए रहा। फकीर ने कहाः "मित्र! सबसे पहले तो इस गठरी को नीचे रख दो।" पंडित ने बडी कठिनाई अनुभव की। फिर भी उसने साहस किया और गठरी को नीचे रख दिया। आत्मा के बोझों को नीचे रखने के लिए निश्चय ही अदम्य साहस की जरूरत होती है। लेकिन फिर भी एक हाथ वह गठरी पर ही रखे हुए था। फकीर ने पुनः कहाः "मित्र! उस हाथ को भी दूर खींच लो!" वह बडा बलशाली व्यक्ति रहा होगा, क्योंकि उसने शक्ति जुटा कर अपना हाथ भी गठरी से दूर कर लिया था। तब फकीर ने उससे कहाः "क्या तुम प्रेम से परिचित हो? क्या तुम्हारे चरण प्रेम के पथ पर चले हैं? यदि नहीं तो जाओ और प्र्रेम के मंदिर में प्रवेश करो। प्रेम को जीयो और जानो और तब आना। फिर मैं तुम्हें परमात्मा तक ले चलने का आश्वासन देता हूं।"
वह पंडित लौट गया। वह आया था तब पंडित था, लेकिन अब पंडित नहीं था। वह अपनी ज्ञान-गठरी वहीं छोड गया था।
वह व्यक्ति निश्चित ही असाधारण था और अदभुत था। क्योंकि साम्राज्य छोडना आसान है किंतु ज्ञान छोडना कठिन है। ज्ञान अहंकार का अंतिम आधार जो है।
लेकिन, प्रेम के लिए अहंकार का जाना आवश्यक है।
प्रेम का विरोधी घृणा नहीं है। प्रेम का मूल शत्रु अहंकार है। घृणा
तो उसकी ही अनेक संततियों में से एक है। राग, विराग, आसक्ति, विरक्ति, मोह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, लोभ, सभी उसकी ही संतानें हैं। अहंकार का परिवार बडा है।
फकीर ने उस व्यक्ति को गांव के बाहर तक जाकर विदा दी। वह इस योग्य था भी। फकीर उसके साहस से आनंदित था। जहां साहस है, वहां धर्म के जन्म की संभावना है। साहस से स्वतंत्रता आती है और स्वतंत्रता से सत्य का साक्षात होता है।
लेकिन फिर वर्ष पर वर्ष बीत गए। फकीर उस व्यक्ति के लौटने की प्रतीक्षा करते-करते बू.ढा हो गया। लेकिन वह न आया। अंततः फकीर ही उसे खोजने निकला और उसने एक दिन उसे खोज ही लिया। एक गांव में वह आत्मविभोर हो नाच रहा था। उसे पहचानना भी कठिन था। आनंद से उसका कायाकल्प ही हो गया था। फकीर ने उसे रोका और पूछाः "आए नहीं? मैं तो प्रतीक्षा करते-करते थक ही गया और तब स्वयं ही तुम्हें खोजता यहां आया हूं। क्या परमात्मा को नहीं खोजना है?" वह व्यक्ति बोलाः "नहीं। बिल्कुल नहीं। प्रेम को पाया, उसी क्षण उसे भी पा लिया है।"

कुछ होने की महत्वाकांक्षा ही मन है

एक स्त्री ने पूछाः "मैं स्वयं को बदलना चाहती हूं। क्या करूं?"
मैंने कहाः "सबसे पहली बातः वस्त्रों को बदलने से बचना। क्योंकि जब
भी किसी के जीवन में आत्मक्रांति की घडी आती है, तब उसका मन उसे वस्त्रों के बदलने में संलग्न कर देता है। मन के लिए यही सुविधापूर्ण है और इसमें ही उसकी सुरक्षा भी है। वस्त्रों के परिवर्तन से मन की मृत्यु तो होती नहीं, अपितु नये वस्त्रों में, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों के बजाय, वह और भी

दीर्घायु हो जाता है। वस्त्रों के परिवर्तन से आत्मक्रांति तो नहीं होती, उल्टे अहंतुष्टि हो जाती है। और अहंतुुष्टि आत्मघात ही है।
वह स्त्री पूछने लगीः "कौन से वस्त्र?"
मैंने कहाः "बहुत प्रकार के वस्त्र हैं। बहुत प्रकार के आवरण हैं। बहुत प्रकार की आत्मवंचनाएं हैं। जो भी ऊपर से ओ.ढा जा सके, उससे सावधान रहना। जो भी स्वयं के यथार्थ को ढांकता हो, उसे ही आत्मवंचना जानना। उसे ही मैं वस्त्रों का नाम दे रहा हूं। व्यक्ति पापी है तो वह पुण्य के वस्त्र पहन लेता है। व्यक्ति हिंसक है तो अहिंसा के वस्त्र धारण कर लेता है। व्यक्ति अज्ञानी है तो वह शास्त्रों और शब्दों से स्वयं को भर कर ज्ञान को ओढ़ लेता है। धर्म से बचने के लिए धर्म के वस्त्रों को धारण कर लेना अधार्मिक चित्त की सनातन चाल है। क्या जो मैं कह रहा हूं, वह तुम्हें चारों ओर दिखाई नहीं पडता है?"
फिर उसने कुछ सोचा और कहाः "मैं संन्यासिनी होना चाहती हूं।"
मैंने कहाः "बस। तब जानो कि वस्त्रों को बदलने का प्रारंभ हो गया है।
जब भी व्यक्ति कुछ होना चाहता है, तभी मन का षड्यंत्र शुरू हो जाता है। कुछ होने की महत्वाकांक्षा ही मन है। यह महत्वाकांक्षा ही उसे भुलाना चाहती है, जो है, और उसे ओढ़ना चाहती है, जो नहीं है। आदर्श ही सारे आवरणों और मुखौटों के जन्मदाता हैं। जिसे सत्य को जानना है, और सत्य को जाने बिना कोई मौलिक आत्मक्रांति संभव नहीं है, उसे जानना होगा जो वह वस्तुतः है। वह जो नहीं है, उसकी आकांक्षा में नहीं, वरन वह जो है उसके पूर्ण अनावरण में क्रांति फलित होती है। व्यक्ति जब स्वयं के सत्य को पूर्णतया जानता है तो यही ज्ञान क्रांति बन जाता है। ज्ञान की क्रांति में समय का अंतराल नहीं है। जहां समय का अंतराल है, वहां क्रांति नहीं आवरण-परिवर्तन की ही खोज है।"
और फिर उससे मैंने एक घटना कहीः
एक दिन अबु हसन के पास एक व्यक्ति आया और बोलाः "ओ परमात्मा के प्यारे दरवेश! मैं अपने अपवित्र जीवन से भयाक्रांत हूं और स्वयं को बदलने के लिए कटिबद्ध हूं। मैं संन्यासी होना चाहता हूं। क्या आप मुझ पर अनुकंपा नहीं करेंगे? क्या आप अपने पहने हुए पवित्र वस्त्र मुझे नहीं दे सकते हैं? मैं भी उन्हें पहन कर पवित्र होना चाहता हूं।"
उस व्यक्ति ने हसन के पैरों पर सिर रख दिया और उन्हें आंसुओं से गीला
कर दिया। उसकी उत्कट आकांक्षा में संदेह का तो सवाल ही नहीं था। उसके आंसू ही क्या उसके लिए गवाह नहीं थे?
अबु हसन ने उसे उठाया और कहाः "मित्र! इसके पहले कि मैं तुम्हें अपने वस्त्रों को देने की भूल करूं, क्या तुम भी मेरे एक प्रश्न का उत्तर देने की कृपा कर सकते हो? क्या कोई स्त्री किसी पुरुष के वस्त्रों को पहन कर पुरुष हो सकती है? या कोई पुरुष किसी स्त्री के वस्त्र पहन कर स्त्री हो सकता है?
उस व्यक्ति ने अपने आंसू पोंछ लिए। संभवतः वह गलत जगह आ गया था। और कहाः "नहीं।"
अबु हसन हंसने लगा और बोलाः "ये रहे मेरे वस्त्र! लेकिन यदि तुम मेरे शरीर को भी ओढ़ लो तो क्या होगा? संन्यासी के वस्त्र पहन कर क्या कभी कोई संन्यासी हुआ है?"
यदि मैं हसन की जगह होता तो कहताः "क्या कभी कोई संन्यासी होने की आकांक्षा से प्रेरित होकर भी संन्यासी हुआ है? संन्यास आता है। वह ज्ञान का फल है और जहां कुछ भी होने की आकांक्षा है, वहां ज्ञान नहीं है। क्योंकि, आकांक्षा से आंदोलित चित्त होता है अशांत, और अशांति में ज्ञान कहां? जहां कुछ भी होने की वासना है, वहां स्वयं से पलायन है। और जो स्वयं से ही भागता है, वह स्वयं को जान कैसे सकता है? इसलिए मैं कहता हूंः भागो नहीं, जागो। बदलो नहीं, देखो। क्योंकि जो जागता है और स्वयं को देखता है, धर्म स्वयं ही उसके द्वार पर आ जाता है।"

अहंकार के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं

एक धनपति ने किसी विशेष अवसर पर अपने मित्रों को भोज दिया था। उस राज्य का राजा भी भोज में उपस्थित था। इस कारण उस धनपति की खुशी का ठिकाना नहीं था। लेकिन अतिथि भोजन करने बैठे ही थे कि उसकी खुशी क्रोध में बदल गई। उसके दास-दासियां सेवा में लगे थे, एक दास से उसके पैर पर गर्म भोजन से भरी थाली गिर पडी। उसका पैर जल गया और उसकी आंखों में क्रोध उबल पडा। निश्चय ही उस गुलाम के जीवित बचने की अब कोई संभावना नहीं थी। वह गुलाम भय से थर-थर कांप रहा था। लेकिन मरता क्या न करता? उसने आत्मरक्षा के लिए उस देश के पवित्र धर्म-ग्रंथ से एक उद्धृत कियाः "स्वर्ग उसका है जो अपने क्रोध पर संयम करता है।"
उसके मालिक ने सुना। उसकी आंखों में तो क्रोध उबल रहा था, लेकिन फिर
भी वह संयमित होकर बोलाः "मैं क्रोध में नहीं हूं।"
इस पर स्वभावतः अतिथियों ने तालियां बजाईं और स्वयं राजा ने भी प्रशंसा की। उस धनपति की आंखों का क्रोध अभिमान बन गया। वह गौरवान्वित हुआ था।
लेकिन उस दास ने फिर कहाः "स्वर्ग उसका है जो क्षमा करता है।" उसके मालिक ने कहाः "मैंने तुम्हें क्षमा किया।"
यद्यपि उन आंखों में क्षमा कहां जो अहंकार से भरी हों। लेकिन अहंकार क्षमा करके भी तो पुष्ट हो सकता है। अहंकार के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं। वह धनपति अब तो अतिथियों को अत्यंत धार्मिक मालूम होने लगा था। उन्होंने तो सदा उसे एक क्रूर शोषक की भांति ही जाना था। उसके इस अभिनव रूप को देख कर तो वे चकित ही रह गए थे। सामने ही बैठे राजा ने भी उसे ऐसे देखा जैसे कोई अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति को देखता है। वह धनपति अब पृथ्वी पर नहीं था। उसका सिर आकाश छू रहा था।
अंततः उस दास ने धर्मग्रंथ का अधूरा पूरा किया, "क्योंकि, परमात्मा उन्हें प्रेम करता है, जो दयालु हैं।"
उस धनपति ने चारों ओर देखा। लौकिक लोभ तो सदा ही उसकी आंखों में था।
आज वही पारलौकिक बन गया था। उस गुलाम से उसने कहाः "जाओ, मैंने तुम्हें मुक्त किया। अब तुम मेरे गुलाम नहीं हो।" और साथ ही स्वर्ण-मुद्राओं से भरी एक थैली भी उसे भेंट दी। उसकी आंखों में क्रोध, अहंकार बना था। अब वही लोभ बन गया था। क्रोध, लोभ, घृणा, भय--क्या सभी किसी एक ही शक्ति की अभिव्यक्तियां नहीं हैं?
और जब धर्म इतना सस्ता हो तो कौन धनपति उसे न खरीदना चाहेगा?
धर्म भी क्या भय और लोभ के खंभों पर ही नहीं खडा हुआ है?
मैं पूछता हूं फिर अधर्म के खंभे कौन से हैं?
धर्म के मंदिर के शिखर पर भी क्या अहंकार ही नहीं है?
मैं पूछता हूं फिर अधर्म के मंदिर का शिखर कौन सा है?

जहां चित्त ठहरता है, वहीं शांति है

एक करोडपति के घर में ठहरा था। उनके पास क्या था, जो नहीं था? किंतु उनकी आंखें बहुत निर्धन थीं। उन्हें देख कर बडी दया आती थी। सुबह से सांझ तक वे धन बटोरते थे। सिक्कों के गिनने, सम्हालने और सुरक्षा करने में ही उनका जीवन बीता था। पर धनी वे नहीं थे। शायद रख वाले ही थे। दिन भर कमाते थे, रात्रि भर रख वाली करते थे। इसीलिए सो भी नहीं पाते थे! धन का कौन रख वाला कभी सो पाया है? निद्रा, स्वप्नशून्य निद्रा केवल उनकी ही संपत्ति बनती है, जो सब भांति की संपत्तियों की विक्षिप्तता से मुक्त हो जाते हैं-- धन की, यश की, या धर्म की। जिसकी कोई भी दौड है, उसके दिवस-रात्रि सभी अशांत हो जाते हैं। अशांति, दौड रहे चित्त की छाया है। जहां चित्त ठहरता है, वहीं शांति है।

मैं जब रात्रि में अपने दरिद्र, लेकिन करोडपति आतिथेय से सोने के लिए विदा लेने लगा था तो उन्होंने कहा थाः "मैं भी सोना चाहता हूं, लेकिन नींद है कि मेरी और देखती ही नहीं। चिंताओं में ही रात्रि बीत जाती है। न मालूम कैसे अनर्गल विचार चलते रहते हैं, न मालूम कैसे-कैसे भय भयभीत करते हैं। स्वस्थ और शांत निद्रा के लिए मुझे कोई मार्ग बतावें। मैं क्या करूं? मैं तो पागल हुआ जाता हूं।"
क्या मार्ग मैं बताता? रोग तो मुझे ज्ञात था। धन ही उनका रोग था। वही दिन में उन्हें सताता था, वही रात्रि में। रात्रि तो दिन की ही प्रतिक्रिया और प्रतिफलन है। फिर रोग चाहे कुछ भी हो, मूलतः तो स्वयं के बाहर किसी भी भांति की सुरक्षा की खोज ही मूल रोग है। उससे सुरक्षा तो आती नहीं, वरन रोग ही और बढ़ता जाता है। सुरक्षा के सब उपायों को छोड जब तक व्यक्ति स्वयं पर ही नहीं लौट आता है, तब तक उसका पूरा जीवन ही एक लंबा दुखस्वप्न बना रहता है। वास्तविक सुरक्षा स्वयं के अतिरिक्त और कहीं नहीं है, लेकिन उसे पाने के लिए सब भांति असुरक्षित होने का साहस आवश्यक है।
मैंने उनसे एक कथा कही और कहाः "जाएं और सो जाएं।" और आश्चर्य कि वे सो
भी गए। दूसरे दिन उनकी आंखों में कृतज्ञता और खुशी के आंसू थे।
आज मैं सोचता हूं तो मुझे स्वयं ही विश्वास नहीं होता। कौन सा जादू उस कथा ने उन पर कर दिया था? शायद मन की किसी दशा-विशेष में कोई साधारण सी बात भी कभी असाधारण हो जाती है। जरूर ऐसा ही कुछ हुआ होगा। संभवतः तीर अनायास ही ठीक जगह लग गया था। उस रात्रि वे सो गए थे, यह तो ठीक ही है। उसके बाद उनके जीवन में भी दूसरे ही फूल खिलने लगे थे।
वह कथा क्या है? स्वभावतः ही उसे जानने की जिज्ञासा आपकी आंखों में गहरी हो उठी है।
एक महानगरी थी। उस नगरी में एक भिक्षु का आगमन हुआ। ऐसे तो भिक्षु आते
ही रहते थे। लेकिन उस भिक्षु में जरूर ही कुछ अदभुत गुण था। हजारों लोगों का तांता उसकी झोपडी पर लगा था। और जो भी उसके निकट जाता, वह वैसी ही सुवास और ताजगी लेकर लौटता जैसी पहाडी झरनों, या वनों के सन्नाटे में, या आकाश के तारों में स्वयं को खो देने पर उपलब्ध होती है। उस भिक्षु का नाम भी अजीब थाः कोटिकर्ण श्रोण। संन्यास के पूर्व वह बहुत धनी था और कानों में एक करोड के मूल्य की बालियां पहनता था, इसीलिए कोटिकर्ण उसका नाम पड गया था। धन तो उसके पास था, लेकिन जब स्वयं की निर्धनता उसने अपनी मिटती नहीं देखी तो वह निर्धन होकर धनी हो गया था। यही वह औरों से कहता था और उसके श्वास से उठ रहा संगीत उसकी गवाही था। उसकी आंखों से झर रही शांति उसकी गवाही थी। उसके शब्दों से और उसके मौन से प्रकट हो रहा आनंद उसकी गवाही था। चित्त प्रौढ़ हो तो धन से, यश से, पद से, महत्वाकांक्षा से मुक्ति सहज ही हो जाती है। वे सब बालपन के खेल ही तो हैं।
भिक्षु श्रोण को देखने-सुनने हजारों व्यक्ति नगर के बाहर एकत्र हुए थे। उसकी बातें सुनने में उनका चित्त निर्वात स्थान में जलती दीपशिखा की भांति थिर था। उस समूह में एक श्राविका कातियानी भी बैठी थी। संध्या हो चली तो उसने अपनी दासी से कहा "तू जाकर घर में दीया जला दे। मैं तो यह अमृतोपम उपदेश छोड कर उठूंगी नहीं।" दासी घर पहुंची तो वहां सेंध लगी हुई थी। अंदर चोर सामान उठा रहे थे और बाहर उनका सरदार रख वाली कर रहा था। दासी उल्टे पांव वापस लौटी। चोरों के सरदार ने भी उसका पीछा किया। दासी ने कातियानी के पास जाकर घबडाए स्वर में कहाः "मालकिन, घर में चोर बैठे हैं।" किंतु कातियानी ने कुछ ध्यान न दिया। वह किसी और ही ध्यान में थी। वह तो जो सुनती थी, सो सुनती रही। जहां देखती थी, वहां देखती रही। वह तो जहां थी, वहीं बनी रही। वह किसी और ही लोक में थी। उसकी आंखों से आनंदाश्रु बहे जाते थे। दासी ने घबडा कर उसे झकझोराः "मां! मां! चोरों ने घर में सेंध लगाई है। वे समस्त स्वर्णाभूषण उठाए लिए जाते हैं।" कातियानी ने आंखें खोलीं और कहाः "पगली! चिंता न कर। जो उन्हें ले जाना है, ले जाने दे। वे स्वर्णाभूषण सब नकली हैं। मैं अज्ञान में थी, इसलिए वे असली थे। जिस दिन उनकी आंखें खुलेंगी, वे भी पाएंगे कि वे नकली हैं। आंखें खुलते ही वह स्वर्ण मिलता है, जो न चुराया जा सकता है, न छीना ही जा सकता है। मैं उस

स्वर्ण को ही देख रही हूं। वह स्वर्ण स्वयं में ही है।" दासी तो कुछ भी न समझ सकी। वह तो हतप्रभ थी और अवाक थी। उसकी स्वामिनी को यह क्या हो गया था? लेकिन चोरों के सरदार का हृदय झंकृत हो उठा। उसके भीतर जैसे कोई बंद द्वार खुल गया। उसकी आत्मा में जैसे कोई अनजला दीप जल उठा। वह लौटा और अपने मित्रों से बोलाः "मित्रो! गठरियां यहीं छोड दो। ये स्वर्णाभूषण सब नकली हैं और आओ, हम भी उसी संपदा को खोजें जिसके कारण गृहस्वामिनी ने इन स्वर्णाभूषणों को नकली पाया है। मैं स्वयं भी उस स्वर्ण-राशि को देख रहा हूं। वह दूर नहीं, निकट ही है। वह स्वयं में ही है।"

चित्त का त्याग कैसे संभव है?

बृहस्पति का पुत्र कच संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर पितृगृह लौटा था। जो भी जाना जा सकता था, वह जान कर आया था। लेकिन चित्त उसका अशांत था। वासनाएं उसे उद्विग्न किए थीं। अहंता के उत्ताप से वह व्याकुल था। इनसे मुक्त होने ही को तो वह ज्ञान की खोज में गया था। लेकिन अशांति जहां की तहां थी और ऊपर से ज्ञान का बोझ और बढ़ गया था। यही होता ही है। शास्त्र-ज्ञान से शांति के जन्म का संबंध ही कौन सा है? शास्त्र और शांति का नाता ही कोई नहीं है। उल्टे वैसा ज्ञान अहंता को और प्रगाढ़ कर अशांति के लिए अधखुले द्वार पूरे ही खोल देता है। लेकिन जिससे शांति ही उपलब्ध न हो, क्या उसे ज्ञान कहना भी उचित है? ज्ञान तो शांत और निर्भार करता है और जो अशांत और भारग्रस्त करता हो, क्या वह भी ज्ञान है? अज्ञान दुख है और यदि ज्ञान भी दुख है तो फिर आनंद कहां है? ज्ञान ही शांति नहीं देगा तब शांति पानी असंभव ही है। सत्य के द्वार पर भी यदि शांति न मिली तो शांति मिलेगी कहां? फिर क्या शास्त्रों में सत्य नहीं है? कच के मन में इन्हीं प्रश्नों के झंझावात उठ रहे थे। वह बहुत चिंतित था। उसने अपने पिता से कहाः "मैं संपूर्ण शास्त्र पढ़ आया हूं। जो भी गुरु से सीखा जा सकता था, वह सीख आया हूं। लेकिन उससे शांति नहीं मिली। बहुत दुखी और अशांत हूं। अब आप ही मुझे शांति का मार्ग बतावें। मैं शांति पाने के लिए क्या करूं?" उसका निरीक्षण सम्यक ही था। शांति न शास्त्र से मिलती है, न मिल सकती है। न ही कोई गुरु ही उसे दे सकता है। वह ऐसी वस्तु ही नहीं है कि उसे बाहर से पाया जा सके। वस्तुतः उसके आविर्भाव का अन्य के द्वारा कोई उपाय ही नहीं है।
बृहस्पति ने कच से कहाः "शांति त्याग से मिलती है।"
कच की जिज्ञासा कोरा कुतूहल-मात्र न थी। वह तो उसके प्राणों की निगूढ़तम अभीप्सा थी। उसने सब कुछ त्याग दिया। वह त्याग के ही पीछे हाथ धोकर पड गया। उसने मात्र लंगोटी पर रह कर वर्षों व्यतीत किए। उपवासों और भांति-भांति के शरीर-दमन से तप किया। वर्ष पर वर्ष बीतते गए, लेकिन शांति के आगमन की कोई पगध्वनियां उसे सुनाई नहीं पडीं। तब उसने लंगोटी भी छोड दी। वह अब पूर्ण नग्न ही रहने लगा। उसने सोचा कि शायद लंगोटी का परिग्रह ही बाधा बन रहा है। अपरिग्रह तो उसका पूरा हो गया था, लेकिन शांति फिर भी अपरिचित ही थी। अंततः उसने अंतिम तैयारी की। सोचा कि शायद देह ही बाधा हो रही है। यह भी तो परिग्रह ही है। वैसे तो तप-हठ से देह सूख कर नाम को ही शेष रह गई थी। फिर भी शेष तो थी ही। उसने उसे भी अशेष करने का निर्णय किया। चिता जला कर वह शरीर त्यागने को तैयार हो गया। किसी भी मूल्य पर हो, शांति तो उसे पानी ही थी। उसे पाने के लिए वह मृत्यु को वरण करने के लिए भी कटिबद्ध था। चिता जब धू-धू कर जलने लगी तो वह पिता से आज्ञा ले उसमें कूदने को तैयार हुआ। लेकिन बृहस्पति हंसे और उसे रोक कर कहाः "पागल! देहत्याग से क्या होगा? जब तक वासनाओं से भरा चित्त है, उसके प्रति अहंकार और ममता है, तब तक देह भस्म करने से भी कुछ नहीं हो सकता है। वासना सदा ही नये शरीर ग्रहण कर लेती है और अहंकार नये आवास खोज लेता है। इसीलिए देह-त्याग, त्याग ही नहीं है। चित्त का त्याग ही त्याग है। चित्त-त्याग में ही शांति है, क्योंकि चित्त से मुक्ति ही शांति है।"

उस क्षण कच तो अवाक ही रह गया था। उसने किंकत्र्तव्यविमूढ़ होकर पूछा थाः "लेकिन, चित्त का त्याग कैसे संभव है?" यही प्रश्न आप मुझसे भी पूछते हैं? जो भी शांति की खोज में है, उसकी मूलभूत समस्या यही है। जो भी सत्य या मुक्ति के अनुसंधान में है, उसकी यही तो जिज्ञासा है। यह चित्त ही तो बाधा है। यह चित्त ही तो अशांति है। यह चित्त क्या है? क्या कुछ होने की आकांक्षा ही चित्त नहीं है। एक क्षण के लिए कृपा कर नींद से जागें और इस सत्य को देखें। क्या होने की वासना, होने की दौड, होने की तृष्णा ही चित्त नहीं है? यदि कुछ होने की तृष्णा न हो तो चित्त कहां है? एक क्षण को भी यदि मैं वहां हूं, वही हूं जो मैं हूं और उससे अन्यथा होने की कोई कामना मुझ में नहीं है, तो चित्त कहां है? और यदि यह सत्य है तो फिर स्वयं चित्त ही शांति की या सत्य की खोज कैसे कर सकता है? शांति की खोज में तो वही है। वह वासना भी तो उसी की है। यह कौन है जो शांत होना चाहता है? यह कौन है जो सत्य को पाना चाहता है? यह कौन है जो मोक्ष का अभीप्सु है? क्या यह सब चित्त ही नहीं है? और यदि यह सब चित्त ही है, तो फिर चित्त से मुक्ति का उपाय क्या है? वस्तुतः चित्त का त्याग, स्वयं चित्त के ही किसी उपाय या प्रयास या साधना से नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्त का कोई भी उपक्रम अंततः चित्त को ही समर्थ और सशक्त करता है और कर सकता है। उसकी कोई भी क्रिया उसकी ही किसी वासना का अनुकरण और अनुसंधान है। और परिणामतः यह स्वाभाविक ही है कि वह उसकी किसी भी क्रिया से स्वयं ही परिपुष्ट और सुदृढ़ हो। इसीलिए चित्त की क्रिया से ही चित्त से मुक्त होना असंभव है। चित्त स्वयं अपनी ही मृत्यु कैसे बन सकता है? संसार की कामना में भी वही जीता है। मोक्ष की कामना में भी वही प्राण पाता है। धन में भी वही है। धर्म में भी वही है। संसार से असफल हो, निराश हो, ऊब अनुभव कर वही चित्त शांति चाहने लगता है, सत्य चाहने लगता है जो संसार को चाहता था, सुख को चाहता था। चित्त वही है क्योंकि मूलतः चाह वही है। जहां चाह है, वहां चित्त है। चाह ही भोग है। चाह ही त्याग है। इस चाह से ही समस्त त्यागों और संन्यासों का जन्म होता है। वे सब भोगों की ही प्रतिक्रियाएं हैं। और जहां प्रतिक्रिया है, वहां मुक्ति कहां? जो क्रिया जिसकी प्रतिक्रिया है, वह उससे ही बंधी है, उससे ही जन्मी है। वह उसका ही रूपांतरण है। वह वही है। त्याग भोग ही है। संन्यास संसार ही है। भोग हो चाहे त्याग, संसार हो चाहे संन्यास, चित्त का मौलिक रूप, चित्त का केंद्रीय संगठन दोनों में ही अक्षुण्ण बना रहता है। चित्त का प्राण चाह है। कुछ होने, कुछ पाने, कहीं पहुंचने की तृष्णा ही उसकी आधारशिला है। इसीलिए न भोग में शांति है, न त्याग में शांति है। शांति तो वहां है और केवल वहां है, जहां चित्त अनुपस्थित है। चित्त की उपस्थिति अशांति है। चित्त की अनुपस्थिति शांति है। चित्त जहां नहीं है, वहीं वह है जो वस्तुतः है। लेकिन आप पूछते हैं "यह हो कैसे?" मित्र, यह न पूछें। क्योंकि यह चित्त ही पूछ रहा है। "कैसे" की खोज उसी की है। विधियों और उपायों की खोज उसी की है। कुछ होने की खोज उसी की है। वह सदा ही पूछता हैः कैसे? यह न पूछें, बल्कि देखें कि चित्त के मार्ग क्या हैं। वह किन-किन मार्गों से संगठित होता है। वह किस-किस भांति संवर्धित होता है, वह कैसे- कैसे सशक्त होता है। निश्चय ही उसके मार्ग अतिसूक्ष्म हैं। इन मार्गों के प्रति जागें। करें कुछ नहीं, बस जागें। चित्त के रूपों और रूपांतरों के प्रति सावधान और सचेत हों। चित्त को समझें। उसे उसकी समग्रता में पहचानें। उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, उसके रागों-द्वेषों, उसकी आसक्तियों-अनासक्तियों के प्रति जागरूक हों। क्षण-क्षण उसकी स्मृति रहे। वह भूले नहीं, विस्मृत न हो। सहज ही उस पर ध्यान हो। सहज ही उस पर दृष्टि हो। बिना किसी तनाव और एकाग्रता के, पूर्ण विश्रांतिपूर्वक, उससे परिचय प्रगाढ़ हो। यह परिचय, ऐसा बोध ही, एक क्रांति लाता है। वस्तुतः यह बोध ही क्रांति है। चित्त को जानते-जानते ही चित्त विलीन हो जाता है। उसे पहचानते-पहचानते ही वह नहीं पाया जाता है। क्योंकि बोध या होश वासना नहीं है। वह कुछ होने या न होने की दौड नहीं है। वह तो उसके प्रति जागरण है, जो है, जो हो रहा है। वासना सदा भविष्य के लिए है। बोध सदा वर्तमान में है। इसीलिए बोध का आगमन ही वासना का विसर्जन बन जाता है। चित्त का ज्ञान ही चित्त से मुक्ति है। स्मरण रहे कि यह चित्त की मुक्ति नहीं, चित्त से ही

मुक्ति है। और मुक्ति के इस निर्बंध आलोक में ही वह जाना जाता है, जो परमात्मा है।

जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है

सुबह से सांझ तक सैकडों लोगों को मैं एक दूसरे की निंदा में संलग्न देखता हूं। हम सब कितना शीघ्र दूसरों के संबंध में निर्णय कर लेते हैं, जब कि किसी के भी संबंध में निर्णय करने से कठिन और कोई बात नहीं है। शायद परमात्मा के अतिरिक्त किसी के संबंध में निर्णय करने का कोई अधिकारी नहीं, क्योंकि एक व्यक्ति को--एक छोटे से, साधारण से मनुष्य को भी जानने के लिए जिस धैर्य की अपेक्षा है, वह परमात्मा के सिवाय और किसमें है?
क्या हम एक दूसरे को जानते हैं? वे भी जो एक दूसरे के बहुत निकट हैं, क्या वे भी एक दूसरे को जानते हैं?
मित्र, क्या मित्र भी एक दूसरे के लिए अपरिचित और अजनबी ही नहीं बने रहते हैं?
लेकिन, हम तो अपरिचितों को भी जांच लेते हैं और निर्णय ले लेते हैं और
वह भी कितनी शीघ्रता से!
ऐसी शीघ्रता अत्यंत कुरूप होती है। लेकिन जो व्यक्ति अन्यों के संबंध में विचार करता रहता है, वह अपने संबंध में विचार करने की बात भूल ही जाता है। और ऐसी शीघ्रता निपट अज्ञान भी है, क्योंकि ज्ञान के साथ होता है धैर्य--अनंत धैर्य।
जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है और जो जल्दी अविचारपूर्वक निर्णय लेने के आदी हो जाते हैं, वे उसे जानने से वंचित ही रह जाते हैं।
एक घटना मैंने सुनी है। पहले महायुद्ध के समय की बात है। एक कमांडर ने अपने सैनिकों को कहाः "सैनिको, बहुत खतरनाक कार्य के लिए पांच सैनिक चाहिए। उस कार्य में जीवन के बचने की संभावना नहीं है। इसीलिए जो स्वेच्छा से जोखिम उठाने को तैयार हों, वे अपनी पंक्ति से दो कदम आगे आवें।" वह अपनी बात पूरी कह भी नहीं पाया था कि एक घुडसवार ने आकर उसका ध्यान बंटा लिया। वह कोई अत्यंत आवश्यक संदेश उसे देने आया था। संदेश को लेने और पढ़ने के बाद उसने आंखें अपनी टुकडी के सैनिकों की ओर उठाईं। उनकी पंक्तियों को अखंड देख, वह क्रोध से भर उठा। उसकी आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं और वह चिल्लायाः "कायरो, नामर्दो, क्या एक भी मर्द तुम्हारे बीच में नहीं है?" उसने और भी गालियां उन्हें दीं। दंड की धमकियां भी दीं, और तभी उसे ज्ञात हुआ कि एक नहीं सारे सैनिक ही दो कदम आगे बढ़ गए थे।

जीवन में कहीं पहुंचने का राज

मैं एक दिन राह के किनारे बैठा था। वृक्षों की घनी छाया में बैठा-बैठा राह चलते लोगों को देखता रहा। उन्हें देख कर बहुत से विचार मेरे मन में आए। वे कहीं भागे चले जा रहे थे। बच्चे, जवान, बू.ढे, स्त्री, पुरुष--सभी भागे जाते थे। उनकी आंखें कुछ खोजती प्रतीत होती थीं और उनके पैर किसी बडी यात्रा में संलग्न थे। लेकिन वे कहां भागे जा रहे थे? क्या था उनका गंतव्य? और क्या अंत में वे पावेंगे कि कहीं पहुंचे?
यही विचार तुम्हें देख कर भी मेरे मन में उठता है।
और उस विचार के साथ ही साथ मैं एक गहरी पीडा से भर जाता हूं। क्योंकि मैं जानता हूं कि तुम कहीं भी नहीं पहुंचोगे। नहीं पहुंचोगे इसलिए, कि तुम्हारा मन और तुम्हारे चरण परमात्मा के विरोध में चल रहे हैं।
जीवन में कहीं पहुंचने का राज हैः परमात्मा की दिशा में चलना। उसके अतिरिक्त कोई भी दिशा, कोई भी मार्ग कहीं नहीं पहुंचाता। परमात्मा की

दिशा में बहो। उसके विपरीत तैर कर मनुष्य केवल स्वयं को तोडता और नष्ट करता है।
मनुष्य का भय क्या है? उसकी चिंता क्या है? उसका दुख क्या है? उसकी मृत्यु क्या है?
मैंने देखाः परमात्मा के विरोध में तैरने की अहं चेष्टा से ही ये सब रुग्णताएं पैदा होती हैं।
अहंकार दुख है। अहंकार रोग है। क्योंकि अहंकार परमात्मा के विरोध की दिशा है। और परमात्मा का विरोध स्वयं का विरोध है।
मैंने एक घटना सुनी है। एक छोटे से वायुयान का चालक 150 मील प्रतिघंटा की चाल से उडा जा रहा था। अचानक उसने पाया कि वह एक भयंकर आंधी की धारा में पड गया है। अंधड बहुत तूफानी था। संभवतः वह भी 150 मील प्रतिघंटा की गति से ही यान की विरोधी दिशा में भागा जा रहा था। इस प्रचंड आंधी में फंसे चालक के प्राण संकट में थे और उसके प्राण का बचना संभव नहीं दीखता था। आश्चर्य तो यह था कि यान के सभी यंत्र यथावत कार्य कर रहे थे और इंजिन शोर कर रहे थे, लेकिन यान एक इंच भी आगे नहीं बढ़ रहा था। बाद में उस चालक ने कहाः "कितना विचित्र अनुभव था वह! 150 मील प्रतिघंटा की गति से भागते हुए एक इंच भी आगे न बढ़ पाना! कितनी गति से मैं जा रहा था और फिर भी कहीं नहीं जा रहा था!"
क्या ऐसा ही जीवन में भी नहीं होता है? नहीं हो रहा है?
परमात्मा की दिशा में जो नहीं चल रहे हैं, वे भी पाएंगे कि चल तो बहुत रहे हैं, लेकिन पहुंच कहीं भी नहीं रहे हैं।
परमात्मा यानी स्वयं की आत्यंतिक सत्ता। परमात्मा यानी स्वरूप। और, क्या यह ठीक ही नहीं है कि स्वयं के विरोध में चल कर कोई कहीं कैसे पहुंच सकता है?
जीवन का आनंद उनका है, जो स्वयं में जीते और स्वयं को जानते और स्वयं
को उपलब्ध करते हैं।

जिनका स्वयं पर राज्य है, वे ही सम्राट हैं

मित्रो! मैं क्या सिखाता हूं। एक छोटा सा राज मैं सिखाता हूं। संसार में सम्राट बनने का राज मैं सिखाता हूं।
और इस छोटे से राज से बडा राज और क्या हो सकता है?
लेकिन, शायद तुम कहो कि संसार में सभी सम्राट कैसे हो सकते हैं? मैं कहता हूंः "हो सकते हैं। एक ऐसा साम्राज्य भी है, जहां सभी सम्राट हो सकते हैं।"
लेकिन, जिस संसार को हम जानते हैं, वहां तो सभी गुलाम हैं। वहां तो वे
भी गुलाम हैं, जो स्वयं को सम्राट समझने के भम्र में हैं।
एक जगत मनुष्य के बाहर है। एक जगत मनुष्य के भीतर भी है। बाहर के जगत में कोई कभी सम्राट नहीं हो सका। हालांकि अधिकतम लोगों ने उसके लिए संघर्ष किया है।
शायद तुम भी उसी संघर्ष में हो। उसी प्रतियोगिता में। तुम्हारी दौड
भी शायद उसी के लिए है।
लेकिन जिसे सम्राट होना हो, उसे संसार को नहीं, स्वयं को ही जीतना पडता है।
क्राइस्ट ने कहाः "परमात्मा का साम्राज्य तुम्हारे भीतर ही है।"
क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जिन्होंने बाहर के राज्य को जीता है, उन्होंने स्वयं को खो दिया है? और जो स्वयं को ही खो दे, वह सम्राट कैसे होगा? सम्राट होने के लिए कम से कम स्वयं होना तो अनिवार्य ही है।
नहीं, नहीं। बाहर का द्वार और भी दरिद्रता में ले जाता है। उस जगत में
जो सम्राट बने दीखते हैं, वे अपने गुलामों के भी गुलाम होते हैं।
और, वासनाएं, तृष्णाएं, कामनाएं मुक्त नहीं करतीं, वरन सूक्ष्म से सूक्ष्म और सख्त से सख्त बंधनों में बांध देती हैं।

वासना की जंजीरों से सुदृ.ढ जंजीरें न तो अब तक बन सकी हैं और न आगे ही
बन सकती हैं। असल में उतना मजबूत फौलाद कोई और होता ही नहीं। इन अदृश्य जंजीरों से बंधा व्यक्ति सम्राट कैसे हो सकता है?
एक सम्राट थाः प्रसिया का फ्रेड्रिक महान। एक संध्या राजधानी के बाहर
एक बू.ढे आदमी से उसे धक्का लग गया। संकरी पगडंडी थी और सांझ का अंधेरा भी घिर रहा था। फ्रेड्रिक ने क्रोध से उस बू.ढे से पूछाः "आप कौन हैं?" उस वृद्ध ने कहाः "एक सम्राट।" फ्रेड्रिक ने साश्चर्य कहाः "सम्राट?" और फिर मजाक में पूछाः "किस देश पर आपका राज्य है?" उस बू.ढे ने कहाः "स्वयं पर।" निश्चय ही जिनका स्वयं पर राज्य है, वे ही सम्राट हैं।

धर्म के प्रति उपेक्षा

धर्म के प्रति उपेक्षा क्यों है? और यह उपेक्षा रोज ही बढ़ती क्यों जाती है?
एक कथा मैंने सुनी हैः एक गांव था। बहुत भोले-भाले उसके निवासी थे। जो जैसा कहता, वैसी ही बात वे मान लेते थे। उनके गांव के बाहर भगवान की एक मूर्ति थी। एक महात्मा वहां आए। उन्होंने उन सबको एकत्र किया और कहाः "अनर्थ! अनर्थ! राम-राम! मूर्खो, तुम छाया में रहते हो और भगवान धूप में? भगवान के सिर पर छाया करो। देखते नहीं, भगवान कितने क्रुद्ध हो रहे हैं?" गांव के लोग बहुत गरीब थे। किसी भांति अपने छप्परों को छोटा कर उन्होंने भगवान के लिए एक छप्पर बनाया। छप्पर डलवा कर महात्मा दूसरे गांव चले गए। उन्हें कोई एक ही गांव तो था नहीं। बहुत गांव थे। बहुत भगवान थे। और सबके लिए छप्पर डलवाने की जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर थी। फिर थोडे दिनों के बाद उस गांव में एक दूसरे महात्मा आए। भगवान के ऊपर छप्पर देखते ही दुखी हो गए। गांव वालों को इकट्ठा किया और उन पर बहुत नाराज हुए। बोले, "सीताराम, सीताराम, अनर्थ हो गया। मूर्खो! भगवान के ऊपर छप्पर? क्या उन्हें तुम्हारे छप्पर की आवश्यकता है? कहीं आग लग जाए तो सब स्वाहा। अभी उतार कर फेंको!" गांव वाले हैरान हुए। लेकिन, अब करते भी तो क्या करते? महात्मा जो कहते हैं सो सदा ठीक ही कहते हैं। उनकी न मानो तो अभिशाप से जन्मों-जन्मों तक दुख दे सकते हैं और नरक में भी सडा सकते हैं। भगवान तो उन्हीं के हाथ में है, जैसा चाहे, वैसा करा लेते हैं। उन बेचारों को छप्पर उतार कर फेंक देना पडा। बहुत दिनों का श्रम, शक्ति और दरिद्रों का धन व्यर्थ ही बरबाद हुआ, सो हुआ, लेकिन भगवान पर छप्पर डालने के कलंक से बच जाना ही क्या कम सौभाग्य था! महात्मा छप्पर निकलवा कर दूसरे गांव चले गए। उन्हें कोई एक ही गांव तो था नहीं। बहुत गांव थे। बहुत भगवान थे। और उन सबको छप्परों से मुक्त करवाने की जिम्मेवारी उन्हीं की थी। लेकिन थोडे ही समय बाद फिर एक महात्मा का आगमन उस गांव में हुआ। पर इस बार गांव वाले सचेत थे और भूल कर भी भगवान की मूर्ति की ओर नहीं जाते थे। पता नहीं अब कौन सा बखेडा खडा हो जाए? उन्होंने उस मार्ग पर ही आना-जाना बंद कर दिया था।
मैं देखता हूं कि जो उस गांव में हुआ था, वही करीब-करीब पूरे संसार में
हो गया है। महात्माओं ने धर्म के नाम पर ऐसी-ऐसी बेहूदी बातें करवाई हैं, और ऐसे-ऐसे भय लोक-मानस में बिठाए हैं, कि यदि लोगों ने भगवान के रास्ते पर ही आना बंद कर दिया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।
धर्म की उपेक्षा तथाकथित महात्माओं द्वारा फैलाए गए आतंकों और अंधविश्वासों की उपेक्षा है।
धर्म की उपेक्षा, धर्म की आड में चल रहे शोषण, पाखंड और जडता की उपेक्षा है।
धर्म की उपेक्षा धर्म के झूठे पूरक बने संप्रदायों और उनके द्वारा फैलाई गई घृणा, वैमनस्य और शत्रुता की उपेक्षा है।
धर्म की उपेक्षा धर्म की उपेक्षा नहीं, वस्तुतः उसकी उपेक्षा है जो धर्म नहीं है।

समस्या और समाधान

एक सम्राट के बडे वजीर की मृत्यु हो गई थी। उसके समक्ष राज्य के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति को चुन कर वजीर बनाने का जटिल सवाल था। फिर अनेक प्रकार की परीक्षाओं के द्वारा अंततः तीन व्यक्ति चुने गए। अब उन तीन में से भी एक को चुना जाना था। उसकी निर्णयात्मक-परीक्षा के एक दिन पूर्व ही यह अफवाह उडा दी गई थी कि सम्राट उन्हें एक ऐसे कक्ष में बंद करने को है, जिसके द्वार पर राज्य के कुशलतम यांत्रिकों द्वारा निर्मित एक ऐसा अदभुत ताला लगा हुआ है, जिसे जो गणित में सर्वाधिक प्रतिभाशाली होगा, केवल वही खोलने में समर्थ हो सकता है। उस रात्रि उन तीन व्यक्तियों में से दो तो चिंता और उत्तेजना के कारण सो ही नहीं सके। वे रात्रिभर तालों के संबंध में लिखे गए शास्त्रों को प.ढते रहे और गणित के नियमों और सूत्रों को समझते रहे। सुबह तक तो वे गणित से इतने ज्यादा भर गए थे कि दो-दो जोडना भी शायद उनसे संभव नहीं होता! राजमहल जाते समय उन्होंने गणित की कुछ पुस्तकें भी अपने वस्त्रों में छिपा ली थीं, जिनकी किसी भी समय आवश्यकता पड सकती थी। अपनी दृष्टि में वे सब भांति तैयार थे, यद्यपि शास्त्रों के साथ रात्रि-जागरण करने के कारण उनके मन ठिकाने नहीं थे और उनके पैर ऐसे पड रहे थे जैसे वे नशे में हों। शास्त्रों और ज्ञान का भी नशा तो होता ही है। लेकिन उन दो को वह तीसरा व्यक्ति निश्चय ही पागल मालूम हो रहा था, जो रात्रि भर शांति से सोया रहा था। उसकी निशिं्चतता सिवाय पागलपन के और किस बात की द्योतक हो सकती थी? वे दोनों रात्रि में भी उसके ऊपर हंसते रहे थे और अब भी उसकी नासमझी पर हंस रहे थे। राजमहल पहुंच कर उन्हें ज्ञात हुआ कि निश्चय ही वह अफवाह सच थी। वहां पहुंचते ही उन्हें एक विशाल कक्ष में बंद कर दिया गया, जिसके द्वार पर वह बहुचर्चित ताला लगा हुआ था, जो उस समय की यांत्रिक प्रतिभा का अन्यतम आविष्कार था। उस ताले को गणित के आधार पर निर्मित किया गया था और वह एक अत्यंत कठिन पहेली की भांति था, जिसे गणित के द्वारा ही हल भी किया जा सकता था। ये सब बातें अफवाहों से भी ज्ञात थीं और उस ताले पर बने गणित-अंक और चिह्न भी इन्हीं की घोषणा कर रहे थे। उन तीनों व्यक्तियों को कक्ष में बंद कर सम्राट के निर्णय से अवगत करा दिया गया कि जो भी व्यक्ति उस कक्ष के ताले को खोल कर सबसे पहले बाहर निकलने में समर्थ होगा, उसे ही महामंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया जाएगा। वे दोनों व्यक्ति शीघ्र ही ताले पर बने चिह्नों का अध्ययन कर गणित के अंकों से जूझने में लग गए। वे बीच-बीच में साथ में लाए शास्त्रों को भी देखते जाते थे। सर्दी की ऋतु थी और कक्ष के बडे-बडे झरोखों से सुबह की शीतल वायु भी भीतर आ रही थी। लेकिन उनके माथों से पसीने की धारें बह रही थीं। थोडा सा समय, और उस ताले को खोलने की कठिन समस्या थी। शीघ्र ही उनके जीवन का भाग्यनिर्णय होने वाला था। इससे उनकी बेचैनी और घबडाहट स्वाभाविक ही थी। उनके हाथ कंप रहे थे और श्वास ब.ढ गई थी। वे लिखते कुछ थे और लिखा कुछ जाता था। लेकिन जो व्यक्ति रात भर सोया रहा था, उसने न तो ताले का ही अध्ययन किया और न कलम ही उठाई और न कोई गणित ही हल किया। वह तो शांति से आंखें बंद किए बैठा था। उसके चेहरे पर न कोई चिंता थी, न उत्तेजना थी। उसे देख कर ऐसा भी नहीं लगता था कि वह कुछ सोच रहा है। उसके भाव और विचार निर्वात गृह में स्थिर दीपशिखा की भांति मालूम होते थे। वह था एकदम शांत, मौन और शून्य। वह अचानक उठा और अत्यंत सहज और शांत भाव से धीरे-धीरे कक्ष के द्वार के पास पहुंचा। उसने अत्यंत आहिस्ते से द्वार का हत्था घुमाया और आश्चर्य कि द्वार उसके छूते ही खुल गया! वह खुला हुआ ही था! वह ताला और उसकी सारी कथा धोखा थी। लेकिन उसके जो दो मित्र गणित की पहेलियां बूझ रहे थे, उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं चला। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि उनका एक साथी अब भीतर नहीं है। यह चैंकाने वाला सत्य तो उन्होंने तभी जाना जब सम्राट द्वार के भीतर आया और उसने उनसे कहाः "महानुभावो, अब यह गणित बंद करो। जिसे निकलना था, वह निकल चुका है!" वे बेचारे तो अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं कर पा रहे थे! उनका वह सब भांति अयोग्य साथी सम्राट के पीछे खडा था। सम्राट ने उन्हें

अवाक देख कर यह भी कहा थाः "जीवन में भी सबसे पहले यही महत्वपूर्ण है कि देखा जाए कि समस्या वस्तुतः है भी या नहीं? ताला बंद भी है या नहीं? जो समस्या को ही नहीं खोजता और समाधान करने लग जाता है, वह स्वभावतः ही भूल में पडता है और सदा के लिए भटक जाता है।"
यह कथा अदभुत रूप से सत्य है।
परमात्मा के संबंध में भी मैंने यही पाया है। उसका द्वार भी सदा से ही खुला हुआ है। और उस पर लगे तालों की सब अफवाहें एकदम असत्य हैं। लेकिन उसके द्वार से प्रवेश पाने के लिए उत्सुक उम्मीदवार उन तालों के भय से शास्त्रों को साथ बांध लेते हैं। फिर ये शास्त्र और सिद्धांत ही उनके लिए ताले बन जाते हैं। फिर वे उसके द्वार के बाहर ही बैठे रह जाते हैं, क्योंकि जब तक वे शास्त्रों की गणित-पहेलियों को हल न कर लें, तब तक प्रवेश संभव ही कैसे है? मुश्किल से ही कोई कभी इतना दुस्साहस करता है कि बिना शास्त्रों के ही उसके द्वार पर पहुंच जाता हो। मैं ऐसे ही पहुंच गया था। पहुंच कर देखा कि जहां तक आंखें देख सकती थीं, वहां तक पंडितगण अपने-अपने शास्त्रों के ढेर में दबे हुए थे और कुछ सवालों के हल करने में इस भांति तल्लीन थे कि मुझ अपात्र का वहां पहुंच जाना भी उन्हें ज्ञात नहीं हुआ था। मैं तो गया और उसके द्वार का हत्था घुमाया और पाया कि वह तो खुला ही हुआ है! पहले तो यही समझा कि मेरे भाग्य से जरूर ही द्वारपालों से कोई भूल हो गई है। अन्यथा यह कैसे संभव था कि जो शास्त्र न जाने, सिद्धांत न जाने, वह सत्य के जगत में प्रवेश पा ले? और मैं डरा-डरा ही भीतर प्रविष्ट हुआ था। लेकिन जो वहां पहले से ही प्रविष्ट हो गए थे, उन्होंने बताया कि परमात्मा के द्वार बंद होने की खबर तो शैतान के द्वारा फैलाई गई निरी झूठी अफवाह है। उसके द्वार तो सदा से ही खुले हुए हैं! प्रेम के द्वार भी क्या बंद हो सकते हैं? सत्य के द्वार भी क्या बंद हो सकते हैं?

जन्म में ही मृत्यु छिपी है

कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य जन्म को तो स्वीकार करता है, किंतु मृत्यु
को नहीं, जबकि जन्म और मृत्यु एक ही घटना के दो छोर हैं। जन्म में ही मृत्यु छिपी है। क्या जन्म मृत्यु का ही प्रारंभ नहीं है? फिर मृत्यु की अस्वीकृति से भय पैदा होता है। भय से पलायन। भयभीत और भागा हुआ चित्त मृत्यु को समझने में असमर्थ हो जाता है। किंतु कोई कितना ही भागे मृत्यु से तो भागना असंभव है। वह तो जन्म में ही उपस्थित हो गई है। मृत्यु से भागा नहीं जा सकता, वरन सब भांति भाग कर अंत में पाया जाता है कि मृत्यु में ही पहुंचना हो गया है।
एक पुरानी कथा है। विष्णु शिव से मिलने कैलाश आए थे। उनके वाहन हैं गरुड। वे विष्णु को उतार कर द्वार पर बाहर ही रुके थे, तभी उनकी दृष्टि तोरण पर बैठे भय से कांपते एक कपोत पर पडी। उन्होंने उससे भय का कारण पूछा। वह कपोत रोने लगा और बोलाः "अभी-अभी यमराज भीतर गए हैं। वे मुझे देख ठिठके, विस्मयपूर्वक निहारा और फिर मुस्कुरा कर गदा हिलाते हुए आगे ब.ढ गए। उनकी यह भेद-भरी हंसी मेरी मृत्यु की निश्चित सूचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा अंत निकट है।" वह कपोत और जोर-जोर से रोने लगा। गरुड ने कहाः "छिः छिः! तू व्यर्थ ही इतना भयातुर है। तू अभी युवा है, इसलिए रोग से मरने की तेरी संभावना नहीं। रहा शत्रु का भय, सो आ मेरी पीठ पर बैठ। निमिष मात्र में तुझे यहां से करोड-करोड योजन दूर लोकालोक पर्वत पर पहुंचा देता हूं, जहां तेरे किसी शत्रु के होने की कोई संभावना ही नहीं है।" यह आश्वासन पा कपोत की जान में जान आई और निमिष मात्र में ही गरुड ने उसे ऐसी निर्जन उपत्यका में पहुंचा दिया, जहां वह अजातशत्रु हो विचरण कर सकता था। किंतु गरुड के लौटते ही उनकी भेंट द्वार से निकलते यमराज से हुई। यमराज की दृष्टि तोरण पर थोडी ही देर पहले बैठे कपोत को खोज रही थी। गरुड ने हंस कर कहाः "महाराज, वह कपोत अब यहां नहीं है। वह तो करोडों योजन दूर लोकालोक पर्वत पर निर्भय हो विचरण कर रहा है। मैं उसे अभी-अभी वहां छोड कर लौटा

हूं!" यह सुन यमराज खूब हंसने लगे और बोलेः "तो आखिर वहां पहुंचा ही दिया? मैं यही सोच कर और उसे यहां देख विस्मित हुआ कि वह यहां कैसे? उसे तो थोडे ही क्षणों बाद लोकालोक पर्वत पर मृत्यु के मुंह में जाना है!"

जो छोड़ने का निश्चय करता है, वह कभी नहीं छोड़ता

एक युवक आए थे। वे संन्यासी होने की तैयारी में हैं। सब भांति तैयार होकर जल्दी ही वे संन्यास लेंगे। बहुत प्रसन्न थे, क्योंकि तैयारी करीब-करीब पूरी ही हो रही है। उनकी बातें सुनीं तो मैं हंसने लगा और उनसे कहाः "संसार की तैयारियां मैंने सुनी थीं। यह संन्यास की तैयारी क्या बला है? क्या संन्यास के लिए भी कोई तैयारी और आयोजना करनी है? और ऐसा सुनियोजित संन्यास भी क्या संन्यास होगा? क्या वह भी संसारी मन का ही विस्तार नहीं है? क्या संसार और संन्यास एक ही मन के आयाम नहीं हैं? संसारी मन संन्यासी नहीं हो सकता है। संसार से संन्यास की ओर संपरिवर्तन, चित्त की आमूल क्रांति के बिना नहीं हो सकता। यह आमूल क्रांति ही संन्यास है। संन्यास न तो वेष-परिवर्तन है, न नाम-परिवर्तन, न गृह-परिवर्तन। वह तो है दृष्टि- परिवर्तन। वह तो है स्वयं के चित्त का समग्र परिवर्तन। उस क्रांति के लिए विचार की वे सरणियां काम नहीं देती हैं, जो संसार में सफल हैं। संसार का गणित उस क्रांति के लिए न केवल व्यर्थ है, अपितु विघ्न भी है। स्वप्न की नियमावलियां जैसे जागरण में नहीं चलती हैं, वैसे ही संसार के सत्य संन्यास में सत्य नहीं रह जाते हैं। संन्यास संसार के स्वप्न से जागरण ही तो है।"
फिर मैंने रुक कर उस युवक की ओर देखा। वे कुछ दुखी से मालूम होते थे। शायद मैंने उनकी तैयारियों को धक्का दे दिया था और वे ऐसी आशा लेकर मेरे पास नहीं आए थे। बिना कुछ कहे ही वे जाने लगे तो मैंने उनसे कहाः सुनो! एक कहानी और सुनो। एक संत थे आजर कैवान। एक व्यक्ति आधी रात में उनके पास आया और बोलाः "हजरत, मैंने कसम खाई है कि फानी दुनिया के सारे ऐशो-इशरत छोड दूंगा। संसार के फंदे को तोडने का मैंने निश्चय ही कर लिया है।" मैं होता तो उससे कहताः "पागल, जो कसम खाता है, वह कमजोर होता है और जो छोडने का निश्चय करता है, वह कभी नहीं छोडता और छोड भी दे तो फिर छोडने को ही पकड लेता है। त्याग अज्ञानी चित्त का संकल्प नहीं है, वह तो ज्ञान की सहज छाया है।" लेकिन मैं तो वहां था नहीं। थे कैवान। उन्होंने उस व्यक्ति से कहाः "तुमने ठीक सोचा है।" वह व्यक्ति प्रसन्न होकर चला गया फिर कुछ दिनों बाद आया और बोलाः "मैं अभी गुदडी और फकीरी पोशाक बना रहा हूं। सरो-सामान तैयार होते ही फकीर हो जाना है।" किंतु इस बार कैवान भी न कह सके कि तुमने ठीक सोचा है! उन्होंने कहाः "मित्र, सरो-सामान छोडने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसी को जुटाने के लिए परेशान है! जा अपनी दुनिया में लौट जा, तू अभी फकीरी के काबिल नहीं है।"

जीवन ही जिसका प्रेम नहीं है, उस जीवन में प्रार्थना असंभव है

मैं परमात्मा की प्रार्थना के लिए तुम्हें मंदिरों में जाते देखता हूं तो सोचता हूं कि क्या परमात्मा केवल मंदिरों में ही है? क्योंकि मंदिरों के बाहर न तो तुम्हारी आंखों में पवित्रता की झलक होती है और न तुम्हारी श्वासों में प्रार्थना की ध्वनि। मंदिरों के बाहर तो तुम ठीक वैसे ही होते हो, जैसे वे लोग जो कभी भी मंदिरों में नहीं गए हैं! क्या इससे तुम्हारा मंदिरों में जाना व्यर्थ सिद्ध नहीं हो जाता है? क्या यह संभव है कि मंदिर की सी.िढयों के बाहर तुम कठोर और भीतर करुण हो जाते होगे? क्या यह विश्वासयोग्य है कि मंदिरों के द्वारों में प्रविष्ट होते ही हिंसक

चित्त प्रेम से भर जाते हों? जिन हृदयों में सर्व के प्रति प्रेम नहीं है, उनमें परमात्मा के प्रति प्रार्थनाओं का जन्म ही कैसे हो सकता है?
जीवन ही जिसका प्रेम नहीं है, उस जीवन में प्रार्थना असंभव है।
और कण-कण में ही जिसके लिए परमात्मा नहीं है, उसके लिए कहीं भी परमात्मा नहीं हो सकता है।
एक रात्रि की घटना है। कोई अजनबी यात्री मक्का के मंदिर में थका- मांदा पहुंचा है और सो गया है। उसके अपवित्र पैर काबा के पवित्र पत्थर की ओर देख कर पुरोहित क्रोध से भर जाते हैं। वे उसके पैरों को पकड कर घसीटते हैं और कहते हैंः "यह तुमने कैसा अपराध किया? पवित्र पत्थर के मंदिर का अपमान करने का साहस? यह सोने का ढंग है? परमात्मा के मंदिर की ओर पैर तो निश्चय ही कोई नास्तिक ही कर सकता है!" उनकी क्रोध-भरी मुद्राएं देख कर और उनके अपमान भरे कटु सुन कर भी वह यात्री हंसने लगता है और कहता हैः "मेरे प्यारे, मैं तो वहीं पैर कर लूं जहां परमात्मा न हो! आप कृपा करें और मेरे पैर वहीं कर दें! मैं स्वयं तो उसके मंदिर को सभी ओर और सभी दिशाओं में पाता हूं।" ये अजनबी यात्री थे नानक। उन्होंने जो कहा वह कितना सत्य है। परमात्मा निश्चय ही सब ओर है। लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या पैरों में भी वही नहीं है? वही तो है। उसके सिवाय और क्या है? अस्तित्व--समग्र अस्तित्व--ही तो वह है। लेकिन मंदिरों में, मूर्तियों में, तीर्थों में उसे देखने वाली आंखें, अक्सर ही उसे उसकी समग्रता में देखने में अंधी हो जाती हैं।

स्वयं का स्वीकार

मैं एक दिन एक वन में था। वर्षा के दिन थे और वृक्षों से आनंद फूटा पडता था। जो साथ थे उनसे मैंने कहाः "देखते हो वृक्ष, कितने आनंदित हैं! क्यों? क्योंकि जो जो है, वह वही हो गया है। बीज हो कुछ, और वृक्ष कुछ और होना चाहे तो फिर वन में इतना आनंद न रहे। वृक्षों को आदर्शों का कुछ पता नहीं, इसीलिए उनकी प्रकृति ने जो चाहा है, वे वही हो गए हैं। और धन्यता वहीं है, जहां स्वरूप और स्वभाव के अनुकूल विकास है। मनुष्य पीडा में है, क्योंकि मनुष्य स्वयं के ही विरोध में है। वह अपनी जडों से ही लडता है और वह जो है, सदा उससे अन्य होने के संघर्ष में लगा रहता है। इस प्रकार वह स्वयं को तो खोता ही है, उस स्वर्ग को भी खो देता है जो सबका स्वरूपसिद्ध अधिकार है।"
मित्र, क्या यह उचित नहीं है कि तुम वही होना चाहो जो तुम हो सकते हो? क्या यह उचित नहीं है कि तुम स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी होने के सारे प्रयत्न छोड दो? क्या उस वासना में ही सारे दुखों का मूलस्रोत नहीं है? स्वयं से अन्य होने की वासना से असंभव और अर्थहीन क्या कोई और चेष्टा है? प्रत्येक वही हो सकता है जो हो सकता है। बीज में ही वृक्ष का पूरा होना छिपा होता है, अन्यथा होने की आकांक्षा विफलता ही ला सकती है। विफलता इसीलिए क्योंकि जो पूर्व से ही स्वयं में छिपा नहीं है, वह प्रकट कैसे होगा? जीवन तो उसकी ही अभिव्यक्ति है जो जन्म में ढंका और अप्रकट होता है। विकास मात्र अनावरण है। और जहां अप्रकट प्रकट नहीं हो पाता, वहीं पीडा का आविर्भाव हो जाता है। जैसे कोई भी मां अपने बच्चे को जीवन भर गर्भ में ही लिए रहे तो असह्य और अवर्णनीय पीडा में पड जाएगी, वैसे ही वे लोग दुख में पड जाते हैं, जो वह नहीं हो पाते जो होना उनकी नियति था। लेकिन मैं तो प्रत्येक को ऐसी ही दौड में देखता हूं। सभी वह होना चाहते हैं जो वे नहीं हैं, और नहीं हो सकते हैं। अंततः परिणाम क्या होता है? परिणाम होता है कि वे जो हो सकते थे, वही नहीं हो पाते हैं। व्यक्ति जो नहीं हो सकता, वह तो नहीं हो सकता है, किंतु जो हो सकता था, उससे वंचित अवश्य रह जा सकता है। आदिवासियों का एक राजा पहली बार किसी बडे शहर में गया था। वह अपना चित्र उतरवाना चाहता था। उसे एक स्टूडियो में ले जाया गया। उस फोटोग्राफर ने अपने द्वार पर एक तख्ती लगा रखी थी। उस पर लिखा हुआ थाः "मनपसंद चित्र

उतरवाएं। जैसे आप हैं--10 रुपये; जैसे आप सोचते हैं कि आप हैं--15 रुपये; जैसे आप दूसरों को दिखाना चाहते हैं--20 रुपये; और जैसे आप सोचते हैं कि आप होते--25 रुपये।" वह सीधा-सादा राजा इससे बहुत हैरान हुआ और पूछने लगा कि क्या पहले चित्र के अतिरिक्त दूसरे चित्रों को उतरवाने वाले व्यक्ति भी यहां आते हैं? उसे बतलाया गया कि पहले चित्र को उतरवाने वाला व्यक्ति तो आज तक यहां नहीं आया है।
क्या मैं पूछ सकता हूं कि आपने कौन सा चित्र उस फोटोग्राफर से उतरवाना पसंद किया होता? आपका मन क्या कहता है? क्या अंतिम चित्र की कामना को आप स्वयं में नहीं पकड पाते हैं? हां, पास में उतने पैसे न हों तो बात दूसरी है! मजबूरी की बात और है, अन्यथा पहले चित्र को उतरवाना कौन पसंद करेगा? लेकिन उस गंवार राजा ने पहला चित्र ही उतरवाया था और कहा थाः "मैं किसी और का नहीं, अपना ही चित्र उतरवाने यहां आया हूं।"
जीवन के द्वार पर भी ऐसी ही तख्ती सदा से लगी हुई है। मनुष्य बनाने के बहुत पहले ही ईश्वर ने उसे वहां टांग दिया था।
संसार में जो भी पाखंड है, वह स्वयं से अन्य होने की रुग्ण वासना से ही पैदा होता है। जब स्वयं से अन्य होने में विफलता हाथ आती है तो व्यक्ति फिर स्वयं से अन्य दीखने में ही संलग्न हो जाता है। क्या यही पाखंड नहीं है? और यदि वह इसमें भी सफल न हो सका तो फिर विक्षिप्त हो जाता है। तब वह स्वयं को जो भी और जैसा भी मानना चाहता है, वैसा मानने को मुक्त होता है। लेकिन पाखंड हो या पागलपन--दोनों की उत्पत्ति स्वयं को अस्वीकार करने से ही होती है। स्वस्थ व्यक्ति का पहला लक्षण स्वयं की स्वीकृति है। जीवन में वह अपना ही चित्र उतरवाने आता है, किसी और का नहीं! अन्यों के ढांचों में स्वयं को ढालने के सब प्रयास अस्वस्थ चित्त की सूचनाएं हैं। मनुष्य को सिखाए गए तथाकथित आदर्श और दूसरों के अनुकरण के लिए दी गई प्रेरणाएं उसे स्वयं को स्वीकार ही नहीं करने देतीं और तब उसकी यात्रा प्रारंभ से ही गलत दिशा में गतिमान हो जाती है। इस भांति की सभ्यता ने मनुष्य को एक महारोग की भांति जकड लिया है। मनुष्य कितना कुरूप और अपंग हो गया है! उसमें कुछ भी स्वस्थ और सहज नहीं है। क्यों? क्योंकि संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा के नाम पर उसकी प्रकृति की निरंतर हत्या की गई है। इस षड्यंत्र से यदि मनुष्य सजग न हुआ तो वह आमूलतः ही नष्ट हो सकता है। संस्कृति प्रकृति की हत्या नहीं है। वह तो उसका ही विकास है। संस्कृति प्रकृति का विरोध नहीं, विकास है। मानव का भविष्य किसी बाह्य आदर्श से नहीं, वरन अंतरस्थ प्रकृति से ही निर्धारित हो सकता है। और तब एक ऐसे सहज और आंतरिक अनुशासन का जन्म होता है, जो स्वरूप को उस सीमा तक खोलता और उघाडता है, जहां सत्य का साक्षात हो सके। इसलिए मैं कहता हूंः स्वयं को चुनें। स्वयं को स्वीकारें। स्वयं को खोजें और विकसित करें। स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य न किसी का आदर्श है, न हो सकता है। अनुकरण आत्मघात है। और स्मरण रखें कि परतंत्रता में परमात्मा कभी भी नहीं पाया जा सकता है।

क्या हम स्वयं को ही अन्यों में नहीं झांक लेते हैं?

सुबह-सुबह ही एक मित्र आए। उनकी आंखों में क्रोध और घृणा की लपटें थीं। किसी के प्रति बहुत ही तीखे और विषाक्त अग्नि-उदगार प्रकट कर रहे थे। शांति से मैंने उनकी बातें सुनीं और उनसे कहाः "क्या आपने एक घटना सुनी है?" वे तो कुछ भी सुनने की स्थिति में नहीं थे। फिर भी बोलेः "कौन सी घटना?" मैं हंसने लगा तो वे कुछ शिथिल हुए। फिर मैंने उनसे कहाः "एक मनोचिकित्सक प्र्रेम और घृणा पर शोध कर रहा था। उसने विश्वविद्यालय की एक कक्षा के 15 विद्यार्थियों से कहा कि वे शेष युवकों में से जिन्हें भी घृणित पाते हों, 30 सेकेंड में उनके नामों के प्रथमाक्षरों को लिख दें। एक युवक किसी का भी नाम नहीं लिख सका। कुछ ने कुछ नाम लिखे। एक ने अधिकतम अर्थात 13 नाम लिखे। इस प्रयोग से जो तथ्य सामने आया वह बहुत आश्चर्यजनक था। जिन युवकों ने अधिकतम व्यक्तियों को घृणित माना था, वे स्वयं भी

अधिकतम व्यक्तियों द्वारा घृणित माने गए थे। और सबसे अदभुत और रहस्य की बात तो यह थी कि जिस युवक ने किसी का भी नाम नहीं लिखा था, उसका नाम भी किसी ने नहीं लिखा था।"
जीवन-पथ पर मनुष्य जिनसे मिलता है, वे अक्सर दर्पण ही सिद्ध होते हैं। क्या हम स्वयं को ही अन्यों में नहीं झांक लेते हैं? स्वयं में घृणा हो तभी अन्यों में घृणित के दर्शन होते हैं। वह घृणा ही घृणित का निर्माण और आविष्कार करती है। यह निर्माण और आविष्कार भी निष्प्रयोजन नहीं है। इस भांति व्यक्ति स्वयं में जो घृणित है, उसके साक्षात की पीडा से बच जाता है। दूसरों में राई का पर्वत बना कर देखने से स्वयं में जो पर्वत की भांति है, वह राई जैसा प्रतीत होने लगता है। स्वयं के कानेपन की पीडा से बचने के दो ही मार्ग हैं--या तो अपनी ही एक आंख ठीक की जाए या दूसरों की दोनों ही आंखें फूटी मान ली जाएं। निश्चय ही दूसरा मार्ग ही सुगम मालूम होता है, क्योंकि उसमें कुछ करना नहीं है, बस मान लेना ही पर्याप्त है।
स्मरण रहे कि जब भी दूसरों से हम मिलें तो उन्हें दर्पण ही समझें और
जो हमें उनमें दिखाई पडे, उसे सर्वप्रथम स्वयं में ही खोजें। इस भांति दैनंदिन संबंधों के दर्पण में ही व्यक्ति आत्मानुसंधान में संलग्न हो जाता है। संसार और उसके संबंधों को छोड कर भागना कायरता तो है ही, व्यर्थ भी है। उचित तो यही है कि उन संबंधों को हम स्वयं की खोज का अवसर बनावें। उनके अभाव में स्वयं को खोजना वैसे ही असंभव है, जैसे दर्पण के अभाव में स्वयं के ही दर्शन करना असंभव है। दूसरों के रूप में हम निरंतर स्वयं से ही मिलते रहते हैं। जो हृदय प्रेम से भर जाता है, वह सब में प्र्रेम के दर्शन करता है। अंततः इसी अनुभूति की पूर्णता परमात्मा का साक्षात बन जाती है। इसी पृथ्वी पर ऐसे लोग हैं जो नरक में हैं और ऐसे लोग भी हैं जो स्वर्ग में हैं। दुख और सुख, नरक और स्वर्ग का मूल स्रोत हमारे भीतर है, और जो भीतर है वही बाह्य के पर्दे पर प्रक्षेपित हो जाता है। मनुष्य की ही आंखें हैं, जो जगत में पदार्थ और मृृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखतीं और मनुष्य की ही आंखें हैं जो जगत में परमात्मा के अमित सौंदर्य और संगीत को भी अनुभव करती हैं। इसलिए जो बाहर प्रतीत होता है, वह नहीं, वरन जो भीतर उपस्थित है, वही जीवन में मौलिक और आधारभूत है। इस सत्य पर सतत जिनकी दृष्टि है, वे बाह्य से मुक्त हो अंतरस्थ में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सुख और दुख में, घृणा और प्रेम में, मित्र और शत्रु में, जो इस मूलस्रोत पर ध्यान रखते हैं वे अंततः पाते हैं कि मेरे स्वयं के अतिरिक्त न कोई सुख है, न दुख; न कोई शत्रु है, न मित्र। मैं ही अपना शत्रु हूं और मैं ही अपना मित्र हूं।

जीवन का सत्य प्रतिध्वनियों में नहीं, वरन स्वयं में ही अंतर्निहित है

मैं पहाडों में था। कुछ मित्र साथ थे। एक दिन हम एक ऐसी घाटी में गए, जहां पहाडियां बहुत स्पष्ट प्रतिध्वनि करती थीं। एक मित्र ने कुत्ते की आवाज की तो पहाड में कुत्ते बोलने लगे और फिर किसी ने कोयल की आवाज की तो घाटी कुहू-कुहू से गूंजने लगी। मैंने कहाः "संसार भी ऐसा ही है। उसकी ओर हम जो फेंकते हैं, वही हम पर वापस लौट आता है। फूल फूल ले आते हैं और कांटे कांटे। प्रेमपूर्ण हृदय के लिए सारा जगत प्रेम की वर्षा करने लगता है और घृणा से भरे व्यक्ति के लिए सब ओर पीडादायी लपटें जलने लगती हैं।"
फिर मैंने उन मित्रों से एक कहानी कहीः एक छोटा सा लडका पहली बार अपने गांव के पास के जंगल में गया था। वह एकांत से भयभीत और बहुत चैकन्ना था। तभी उसे झाडियों में कुछ सरसराहट सुनाई पडी। निश्चय ही कोई व्यक्ति छिपा हुआ उसका पीछा कर रहा था। उसने जोर से चिल्ला कर पूछाः "कौन है?" और भी जोर से पहाडियों ने पूछाः "कौन है?" अब तो किसी के छिपे होने का उसे पूर्ण निश्चय हो गया। भयभीत तो वह वैसे ही था। उसके हाथ-पैर कांपने लगे और हृदय जोर-जोर से धडकने लगा। लेकिन स्वयं को साहस देने के लिए उसने छिपे हुए

आदमी से कहाः "डरपोक!" प्रतिध्वनि हुईः "डरपोक!" अंतिम बार उसने शक्ति जुटाई और चिल्लायाः "मैं मार डालूंगा!" पहाड और जंगल भी जोर से चिल्लाएः "मैं मार डालूंगा!" तब वह लडका सिर पर पैर रख कर गांव की ओर भागा। उसके ही पैरों की प्रतिध्वनि उसे ऐसी लगती थी जैसे वह आदमी उसका पीछा कर रहा है। अब उसमें लौट कर देखने का भी साहस नहीं था। वह घर के द्वार पर जाकर गिर पडा और बेहोश हो गया। होश में आने पर सारी बात पता चली। सुन कर उसकी मां खूब हंसी और बोलीः "कल फिर वहीं जाना और जो मैं बताऊं वह उस रहस्यमय व्यक्ति से कहना। मैं तो उससे भलीभांति परिचित हूं। वह तो बहुत ही भला और प्यारा आदमी है।" वह लडका कल फिर वहां गया। उसने जाकर कहाः "मेरे मित्र!" प्रतिध्वनि हुईः "मेरे मित्र!" इस मैत्रीपूर्ण ध्वनि ने उसे आश्वस्त किया। उसने कहाः "मैं तुम्हें प्रेम करता हूं!" पहाडों ने, जंगलों ने, सभी ने दुहरायाः "मैं 6 म्हें प्रेम करता हूं!" क्या प्रतिध्वनि की कथा ही हमारे तथाकथित जीवन की कथा नहीं है?
और क्या हम सब संसार के जंगल में ऐसे बाल अजनबी ही नहीं हैं, जो अपनी
ही प्रतिध्वनियों को सुनते हैं, भयभीत होते हैं और भागते हैं?
क्या सच ही स्थिति ऐसी ही नहीं है?
लेकिन स्मरण रहे कि "मैं मार डालूंगा!" यह प्रतिध्वनि है, तो "मैं तुम्हें प्रेम करता हूं!" यह भी प्रतिध्वनि ही है। पहली प्रतिध्वनि से मुक्त होकर दूसरी के प्रेम में पड जाना बालपन से छुटकारा नहीं है। कुछ पहली प्रतिध्वनि से भयभीत होते हैं, कुछ दूसरी प्रतिध्वनि में मोहग्रस्त। लेकिन बुनियादी रूप से उन दोनों में कोई भेद नहीं है। अप्रौढ़ता दोनों में ही छिपी है। जो जानता है, वह दोनों भ्रमों से मुक्त होकर जीता है। जीवन का सत्य प्रतिध्वनियों में नहीं, वरन स्वयं में ही अंतर्निहित है।

मित्र और शत्रु--सब स्वयं की ही परछाइयां हैं

मैं सोकर उठा ही था कि खबर मिली कि पडोस में किसी की हत्या कर दी गई है। सभी उस चर्चा में व्यस्त हैं। वातावरण में सनसनी है और लोगों की सदा फीकी बनी रहनेवाली आंखों में भी चमक है। न तो किसी को दुख है, न सहानुभूति, बस एक रुग्ण और गर्हित रस ही दिखाई पडता है। मृत्यु और हत्या भी क्या सुख देती है? विनाश भी क्या सुख लाता है? लाता ही होगा, नहीं तो युद्धों में जन-मन का इतना उत्साह नहीं हो सकता था।
जीवन-ऊर्जा जब सृजन की राह पर गतिशील नहीं हो पाती है, तो वही अनायास
ही विध्वंस में संलग्न हो जाती है। फिर उसकी अभिव्यक्ति के लिए विनाश ही विकल्प है। जो स्वयं को सृजनात्मक नहीं बनाता है, वह न चाहे तो भी उसकी जीवन-दिशा विनाशोन्मुख हो जाती है।
व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में--सभी में विनाश के लिए आकुलता है।
यह विनाशोन्मुखता अंततः आत्मघात भी बन जाती है। विनाश का रस पैदा हो तो अंततः वह स्वयं को ही नष्ट करके मानता है। हत्यारे में और आत्मघाती में बहुुत फासला नहीं है। हिंसा की चरम परिणति आत्म-हिंसा है।
उस व्यक्ति को मैं जानता था, रात जिसकी हत्या की गई है और उसे भी जिसने हत्या की है। दोनों पुराने शत्रु थे और वर्षों से एक दूसरे को समाप्त करने की टोह में थे। शायद इस महत कार्य के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई लक्ष्य ही नहीं था। शायद इसीलिए हत्यारे ने हत्या करने के बाद, स्वयं को स्वयं ही न्याय के हाथों में सौंप दिया है। उसे जीकर अब क्या करना है? जिसके लिए वह जीता था, वह समाप्त ही हो गया है। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि हममें से अधिक अपने शत्रुओं के लिए ही जीते हैं? मित्रों के लिए जीने और मरने वाले लोग तो बहुत कम हैं। अधिकतम लोग तो शत्रुओं के लिए ही जीते और मरते हैं। प्रेम नहीं, घृणा ही जीवन का आधार बन गई है। और तब स्वाभाविक ही है कि मृत्यु में एक गर्हित रस हो और विनाश के प्रति हमारे प्राण, एक विवश

आकुलता और आकर्षण का अनुभव करें। व्यक्ति हिंसा में और राष्ट्र युद्धों में अकारण ही नहीं खिंच जाते हैं।
यह घृणा क्या है? क्या यह स्वयं के जीवन को आनंद के शिखरों तक न पहुंचा पाने का दूसरों से प्रतिशोध ही तो नहीं है? निश्चय ही जो हम उपलब्ध नहीं कर पाते हैं, उसके लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहरा कर आत्मग्लानि से बचने का सहज और सीधा मार्ग मिल जाता है।
और यह शत्रुता क्या है? क्या स्वयं के मित्र होने की असफलता की ही वह घोषणा नहीं है?
और क्या शत्रु को समाप्त करने से शत्रुता समाप्त हो सकती है?
शत्रुता से शत्रु उत्पन्न होता है, इसलिए शत्रु तो मिट सकता है, लेकिन शत्रुता शेष ही रह जाती है। मित्र के मरने से क्या मित्रता नष्ट होती है? नहीं। तो फिर शत्रु के मिटने से शत्रुता कैसे नष्ट हो सकती है? मित्र और शत्रु बाहर दिखाई पडते हैं, किंतु उनका उदगम स्वयं के ही भीतर है। जीवन की गंगा बाहर है, किंतु गंगोत्री सदा ही भीतर है। मैं तो प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं की प्रतिध्वनि ही पाता हूं। जो मैं होता हूं, वही दूसरे में झलक आता है।
एक घटना स्मरण आती हैः
अमावस की अंधेरी रात्रि थी। एक व्यक्ति किसी की हत्या करने के लिए उसके घर में घुसा। चारों ओर कोई भी नहीं था, लेकिन उसके भीतर बहुत भय था। सब ओर सन्नाटा था, किंतु उसके भीतर बहुत कोलाहल और अशांति थी। भयभीत कांपते हाथों से उसने द्वार खोला। आश्चर्य कि द्वार भीतर से बंद नहीं था। बस अटका ही था। लेकिन यह क्या? द्वार खोलते ही उसने देखा कि एक मजबूत और खूंखार आदमी बंदूक लिए सामने खडा है। संभवतः पहरेदार था। लौटने का कोई उपाय नहीं। मृत्यु सामने थी। विचार का भी तो समय नहीं था। आत्मरक्षा के लिए उसने गोली दाग दी। एक क्षण में ही सब हो गया। गोली की आवाज से सारा भवन गूंज उठा और गोली से कोई चीज चूर-चूर होकर बिखर गई। यह क्या? गोली चलानेवाला व्यक्ति हैरान रह गया। सामने तो कोई भी नहीं था। गोली का धुआं था और चूर-चूर हो गया एक दर्पण था!
जीवन में भी यही दिखाई पडता है। आत्मरक्षा के ख्याल में हम दर्पणों
से ही जूझ पडते हैं। भय भीतर है, इसलिए बाहर शत्रु दिखाई पडने लगते हैं। मृत्यु भीतर है, इसलिए बाहर मारनेवाला दिखाई पडने लगता है। लेकिन क्या दर्पणों के फोडने से शत्रु समाप्त हो सकते हैं?
शत्रु मित्रता में समाप्त होता है, मृत्यु में नहीं। प्रेम के अतिरिक्त और सब पराजय है।
शत्रु है स्वयं में, स्वयं की घृणा में, स्वयं के भय, द्वेष और ईर्ष्या में। किंतु दिखाई पडता है वह बाहर। पांडुरोगी की आंखों में पीलापन होता है लेकिन उसे दिखाई पडता है कि सारा संसार ही पीला हो गया है। ऐसे रोग में क्या करना उचित है? क्या संसार से पीतवर्ण को मिटाने में लगना ठीक होगा या स्वयं की आंखों का उपचार? संसार तो वैसा ही है जैसी कि स्वयं की आंखें हैं। स्वयं की दृष्टि में ही शत्रु और मित्र के रंग छिपे हैं। शत्रु को तो कोई भी नहीं चाहता, लेकिन शत्रुता को हम प्रेम किए जाते हैं। शत्रु को मिटाने की आकांक्षा में भी तो यही प्रकट होता है कि हम शत्रु नहीं, मित्र चाहते हैं, लेकिन घृणा को हम अपने रक्त से सींचते रहते हैं। यह निपट मूढ़ता है। मित्र को जीवन देना चाहते हैं, लेकिन प्रेम को जन्म ही नहीं देते हैं। शत्रुओं की हत्या की जाती है, लेकिन वस्तुतः मित्रों की ही हत्या हो जाती है। बीज तो हम विष के बोते हैं और आकांक्षा अमृत के फलों की करते हैं! यह होना असंभव है।
मित्र और शत्रु-स्वयं की ही परछाइयां हैं।
मैं प्रेम हूं तो संसार भी मित्र है।
मैं घृणा हूं तो परमात्मा भी शत्रु है।

स्वयं की वास्तविक सत्ता की खोज

एक मित्र कभी-कभी आते हैं। उन्हें देख सदा ही सुकरात का वचन याद आ जाता है। किसी फकीर से सुकरात ने कहा थाः "बंधु, तुम्हारे फटे हुए फकीरी वस्त्रों में से सिवाय अभिमान के और कुछ भी नहीं झांकता है।"
अहंकार के मार्ग अतिसूक्ष्म हैं। ओ.ढी हुई विनम्रता उसकी सूक्ष्मतम गति है। ऐसी विनम्रता उसे ढांकती कम, प्रकट ही ज्यादा करती है। वह उन वस्त्रों की भांति ही होती है, जो शरीर को ढांकते नहीं, अपितु उघाडते हैं। वस्तुतः न तो प्रेम को ओढ़ कर घृणा मिटाई जा सकती है और न ही विनम्रता के वस्त्रों से अहंकार की नग्नता ही ढांकी जा सकती है। राख के नीचे जैसे अंगारे छिपे और सुरक्षित होते हैं और हवा का जरा सा झोंका ही उन्हें प्रकट कर देता है, ऐसे ही आरोपित व्यक्तित्वों में यथार्थ दबा रहता है। एक धीमी सी खरोंच ही अभिनय को तोड कर उसे प्रत्यक्ष कर देती है। ऐसी परोक्ष बीमारियां प्रत्यक्ष बीमारियों से ज्यादा ही भयंकर और घातक होती हैं। लेकिन स्वयं को ही धोखा देने में मनुष्य का कौशल बहुत विकसित है और वह उस कौशल का इतना अधिक उपयोग करता है कि वह उसका स्वभाव जैसा ही बन जाता है। हजारों वर्षों से जबरदस्ती सभ्यता लाने के प्रयास में इस कौशल के अतिरिक्त और कुछ भी निर्मित नहीं हुआ है। प्रकृति को मिटाने में तो नहीं, उसे ढांकने में मनुष्य जरूर ही सफल हो गया है। और इस भांति तथाकथित सभ्यता एक महारोग सिद्ध हुई है।
संस्कृति का आविर्भाव प्रकृति के विरोध से कैसे हो सकता है? उससे तो संस्कृति नहीं, विकृति ही फूलेगी-फलेगी। वास्तविक संस्कृति तो प्रकृति का ही सम्यक निखार है। आत्मवंचनाएं मनुष्य को कहीं भी नहीं ले जा सकतीं, लेकिन आत्मक्रांति की तुलना में आत्मवंचना बहुत आसान है, और सदा ही आसान को चुनने से भूल हो जाती है। आसान सदैव ही ठीक नहीं होता। जीवन के पर्वतीय शिखर छूने के लिए उतार की सुगमता को कैसे वरण किया जा सकता है? स्वयं को धोखा देना बहुत ही सुगम है। दूसरों को धोखा देने में तो पकडे जाने का भी भय होता है। स्वयं को धोखा देने में वह भय भी नहीं। दूसरों को धोखा देनेवाले पृथ्वी पर दंड और अपमान भोगते हैं, और परलोक में भी नरक की घोर यातनाएं उनकी प्रतीक्षा करती हैं। लेकिन स्वयं को धोखा देने वाले इस लोक में भी सम्मानित होते हैं, और उस लोक में भी स्वयं को स्वर्ग का अधिकारी मानते हैं। इसीलिए तो मनुष्य निर्भय होकर स्वयं को धोखा देता है। अन्यथा सभ्यता और धार्मिकता के सारे ढोंग पैदा ही कैसे हो सकते थे?
लेकिन क्या जो यथार्थ है, उसे मात्र छिपा कर मिटाया जा सकता है?
और क्या मनुष्य स्वयं को, सबको और अंततः परमात्मा को भी धोखा देने में समर्थ हो सकता है?
क्या ऐसी सब दौड निपट मूर्खता नहीं है?
व्यक्ति जैसा है, उसे स्वयं को वैसा ही जानना उचित है, क्योंकि स्वयं
के यथार्थ को स्वीकार किए बिना स्वयं का कोई भी वास्तविक रूपांतरण नहीं हो सकता। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जैसे रोग को उसकी शत-प्रतिशत सच्चाई में जानना होता है, वैसे ही आत्मिक स्वास्थ्य के लिए भी आंतरिक रुग्णताओं को जानना आवश्यक है। रोग को ढांकना, रोगी के नहीं, रोग के ही हित में है। उपचार के लिए निदान अनिवार्य है। जो निदान से बचना चाहते हैं, वे उपचार से भी वंचित रह जाते हैं।
एक मूर्तिकार राल्फ वाल्डो इमर्सन की मूर्ति बना रहा था। इमर्सन रोज
ही पत्थर पर उभरती आकृति को बहुत गौर से देखता था। और जैसे-जैसे मूर्ति बनती जाती थी, वह वैसे-वैसे गंभीर होता जाता था। अंततः जब एक दिन मूर्ति करीब-करीब तैयार हो गई, तो इमर्सन उसे देख कर बहुत गंभीर हो गया। मूर्तिकार ने उससे गंभीर होने का कारण पूछा, तो वह बोलाः मैं देख रहा हूं कि मूर्ति जैसे-जैसे मेरे जैसी होती जा रही है वैसे-वैसे कुरूप और भद्दी होती जाती है।
मैं स्वयं की कुरूपता, नग्नता और पशुता को देखने की इस सामथ्र्य को ही आत्मक्रांति का पहला सोपान मानता हूं।

एक ने गुरु के चरणों में बैठ कर चित्रण शुरू किया। वर्ष आए और गए। कठिन साधना थी। समय का सवाल ही नहीं था। पूरी शक्ति लगा कर वह युवक साधनारत था। धीरे-धीरे उसकी ख्याति फैलने लगी। कला के जगत में उसका भाग्योदय हो गया था। उस युवक का नाम थाः अलब्रेख्त डुरेर। किंतु उससे भी कठिन साधना में उसका मित्र लगा था। वह गड्ढे खोद रहा था और गिट्टियां फोड रहा था, लकडियां काट रहा था और बोझ ढो रहा था। धीरे-धीरे वह भूल ही गया कि वह भी चित्रकला सीखने आया था। और जब कलाभ्यास की उसकी बारी आई तो पाया गया कि उसके हाथ तो इतने कडे, सख्त और विकृत हो गए थे कि उनसे चित्रण संभव ही नहीं रहा था।
यह दुर्घटना देख पहला युवक रोने लगा, किंतु दूसरा बहुत आनंदित था। उसने कहाः "इससे क्या भेद पडता है कि मेरे हाथ चित्र बनाते हैं या तुम्हारे? तुम्हारे हाथ भी क्या मेरे ही हाथ नहीं हैं?"
पहला युवक तो महान चित्रकार बन गया, किंतु उसके मित्र का नाम तो किसी
को ज्ञात भी नहीं है, जिसने अपना खून-पसीना एक कर उसे चित्रकार बनाया था। किंतु उसकी अज्ञात सेवा क्या प्रेम का एक ज्वलंत प्रमाण नहीं है? क्या वे धन्य नहीं हैं, जो अज्ञात में सेवा करते और सेवा के अवसरों की प्रतीक्षा करते हैं? जो जाने जाते हैं, वे ही नहीं, जो कभी नहीं जाने जाते, वे भी सृजन करते हैं।
प्रेम के अज्ञात हाथों से की गई सेवा से बडी न तो कोई साधना है और न कोई प्रार्थना ही। अलब्रेख्त डुरेर ने अपने उस मित्र के हाथों का प्रार्थना करता हुआ एक चित्र बनाया है। निश्चय ही वैसे सुंदर हाथ खोजना क्या आसान है? उन जैसे पवित्र हाथ खोजना क्या संभव है? और क्या उन जैसे हाथों के अतिरिक्त प्रार्थना करने का अधिकार किसी और को मिल सकता है? उन हाथों ने जैसा प्रेम किया और प्रार्थना की, वह सौभाग्य कितने थोडे से लोगों को मिल पाता है?

विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है

मैं एक महानगरी में था। वहां कुछ युवक मिलने आए। वे पूछने लगेः "क्या
आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?" मैंने कहाः "नहीं। विश्वास का और ईश्वर का क्या संबंध? मैं तो ईश्वर को जानता हूं।"
फिर मैंने उनसे एक कहानी कही।
किसी देश में क्रांति हो गई थी। वहां के क्रांतिकारी सभी कुछ बदलने में लगे थे। धर्म को भी वे नष्ट करने पर उतारू थे। उसी सिलसिले में एक वृद्ध फकीर को पकड कर अदालत में लाया गया। उस फकीर से उन्होंने पूछाः "ईश्वर में क्यों विश्वास करते हो?" वह फकीर बोलाः "महानुभाव, विश्वास मैं नहीं करता। लेकिन, ईश्वर है। अब मैं क्या करूं?" उन्होंने पूछाः "यह तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि ईश्वर है?" वह बू.ढा बोलाः "आंखें खोल कर जब से देखा, तब से उसके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पडता है।"
उस फकीर के प्रत्युत्तरों ने अग्नि में घृत का काम किया। वे क्रांतिकारी बहुत क्रुद्ध हो गए और बोलेः "शीघ्र ही हम तुम्हारे सारे साधुओं को मार डालेंगे। फिर...?"
वह बू.ढा हंसा और बोलाः "जैसी ईश्वर की मर्जी!"
"लेकिन हमने तो धर्म के सारे चिह्नों को ही मिटा डालने का निश्चय किया है। ईश्वर का कोई भी चिह्न हम संसार में न छोडेंगे।"
वह बू.ढा बोलाः "बेटे! यह बडा ही कठिन काम तुमने चुना है, लेकिन ईश्वर
की जैसी मर्जी। सब चिह्न कैसे मिटाओगे? जो भी शेष होगा, वही उसकी खबर देगा। कम से कम तुम तो शेष रहोगे ही, तो तुम्हीं उसकी खबर दोगे। ईश्वर को मिटाना असंभव है, क्योंकि ईश्वर तो समग्रता है।"

ईश्वर को एक व्यक्ति की भांति सोचने से ही सारी भ्रांतियां खडी हो गई हैं।

ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं। वह तो जो है, वही है।
और ईश्वर में विश्वास करने के विचार से भी बडी भूल हो गई है।
प्रकाश में विश्वास करने का क्या अर्थ? उसे तो आंखें खोल कर ही जाना
जा सकता है।
विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है।
आंखों पर पट्टियां बंधा विश्वास नहीं, वरन पूर्णरूपेण खुली हुई आंखोंवाला विवेक ही मनुष्य को सत्य तक ले जाता है।
और, सत्य ही परमात्मा है। सत्य के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है।

सत्य है बहुत आंतरिक--आत्यंतिक रूप से आंतरिक

मैं मन के आमूल परिवर्तन का आग्रह करता हूं। शरीर के तल पर किसी भी परिवर्तन का कोई गहरा मूल्य नहीं। मात्र आचरण की बदलाहट अपर्याप्त है, क्योंकि अंतस की क्रांति के अभाव में वह आत्मवंचना से ज्यादा नहीं है। लेकिन जिनके चित्त में भी स्वयं को परिवर्तित करने का विचार उठता है,
वे शीघ्र ही हृदय को बिना बदले ही वस्त्रों को बदलने में संलग्न हो जाते हैं। स्वयं को धोखा देने की यह अंतिम विधि है। इससे सावधान होना बहुत आवश्यक है। अन्यथा संन्यास भी बाह्य घटना मात्र रह जाता है। संसार तो बाह्य है, लेकिन संन्यास भी बाह्य ही हो तो जीवन बहुत ही अंधकारपूर्ण पथों पर भटक जाता है।
वासना का पथ तो अज्ञान है ही। किंतु यदि त्याग भी बाह्य हो, तो वह और
भी अज्ञानपूर्ण मार्गों पर ले जाता है।
वस्तुतः चेतना का स्वयं से बाह्य होना ही अज्ञान और अंधकार है। फिर इससे कोई भेद नहीं पडता है, वह बाह्यता संसार को लेकर है, या संन्यास को।
चित्त बाह्यता से घिरा हो, तो भोग भी उसे बाहर रखता है और त्याग भी।
और चित्त बाह्य से मुक्त हो, तो सहज ही स्वयं में आ जाता है।
बाह्य की सार्थकता का आभास संसार है।
और बाह्य की व्यर्थता का बोध संन्यास।
एक कथा मैंने सुनी हैः
एक नगर में एक ही दिन दो मृत्यु हो गई थीं। बडी अजीब घटना हुई थी। एक योगी और एक वेश्या--दोनों एक ही दिन एक ही घडी में संसार से चल दिए थे। दोनों का आवास भी आमने-सामने ही था। दोनों जीए भी साथ ही साथ और मरे भी साथ ही साथ। एक और गहरा आश्चर्य भी था। वह तो योगी और वेश्या को छोड और किसी को ज्ञात नहीं है। जैसे ही उनकी मृत्यु हुई, वैसे ही उन्हें ले जाने के लिए ऊपर से दूत आए, लेकिन वे दूत वेश्या को लेकर स्वर्ग की ओर चले और योगी को लेकर नरक की ओर। योगी ने कहाः "मित्रो, निश्चय ही कुछ भूल हो गई है! वेश्या को स्वर्ग की ओर लिए जाते हो और मुझे नरक की ओर? यह कैसा अन्याय है--यह कैसा अंधेर है?" उन दूतों ने कहाः "नहीं, महानुभाव, न भूल है, न अन्याय, न अंधेर। कृपा कर थोडा नीचे देखें।" योगी ने नीचे धरती की ओर देखा। वहां उसके शरीर को फूलों से सजाया गया था और उसका विशाल जुलूस निकाला जा रहा था। हजारों- हजारों लोग रामधुन गाते हुए, उसके शरीर को श्मशान की ओर ले जा रहे थे। वहां उसके लिए चंदन की चिता तैयार थी, और दूसरी ओर सडक के किनारे वेश्या की लाश पडी थी। उसे कोई उठानेवाला भी नहीं था, इसलिए गीध और कुत्ते उसे फाड-फाड कर खा रहे थे।
यह देख वह योगी बोलाः "धरती के लोग ही कहीं ज्यादा न्याय कर रहे हैं!"
उन दूतों ने उत्तर दियाः "क्योंकि धरती के लोग केवल वही जानते हैं, जो बाहर था। शरीर से ज्यादा गहरी उनकी पहुंच नहीं। किंतु असली सवाल तो शरीर का नहीं, मन का है। शरीर से तुम संन्यासी थे, किंतु मन में तुम्हारे क्या था? क्या सदा ही तुम्हारा मन वेश्या में अनुरक्त नहीं था? क्या सदा ही तुम्हारे मन में यह वासना नहीं जागती रही कि उधर वेश्या के घर में कैसा सुंदर संगीत और नृत्य चल रहा है, वहां बडा आनंद आता होगा और मेरा जीवन कैसा नीरस है। और उधर वह वेश्या थी। वह निरंतर ही सोचती थी कि योगी का जीवन कैसा आनंदपूर्ण है! रात्रि को जब तुम भजन गाते थे तो वह भाव-विभोर हो रोती थी। इधर संन्यासी के अहंकार से तुम भरते जा रहे थे, उधर पाप की पीडा से वह विनम्र होती जाती थी। तुम अपने तथाकथित ज्ञान के कारण कठोर होते गए और वह अपने अज्ञान-बोध के कारण सरल। अंततः तुम्हारा अहंकारग्रस्त व्यक्तित्व बचा और उसका अहंशून्य। मृत्यु के क्षण में तुम्हारे चित्त में अहंकार था, वासना थी। उसके चित्त में न अहंकार था, न वासना। उसका चित्त तो परमात्मा के प्रकाश, प्रेम और प्रार्थना से परिपूर्ण था।"
जीवन का सत्य बाह्य आवरण में नहीं है। फिर बाह्य के परिवर्तन से क्या होगा?

सत्य है बहुत आंतरिक-आत्यंतिक रूप से आंतरिक। उसे जानने और पाने के लिए व्यक्तित्व की परिधि पर नहीं, केंद्र पर श्रम करना होता है। उस केंद्र को खोजो। खोजने से वह निश्चय ही मिलता है, क्योंकि वह स्वयं में ही तो छिपा है।
धर्म परिधि का परिवर्तन नहीं, अंतस की क्रांति है।
धर्म परिधि पर अभिनय नहीं, केंद्र पर श्रम है।
धर्म श्रम है, स्वयं पर। उस श्रम से ही स्व मिटता और सत्य उपलब्ध होता है।

"अहंकार" समस्त हिंसा का मूल है

अहंकार हृदय को पाषाण बना देता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुंदर है, वह उस सबकी मृत्यु है। इसलिए अहंकार के अतिरिक्त परमात्मा के मार्ग में कोई बाधा नहीं। क्योंकि पाषाण-हृदय प्रेम को कैसे जानेगा? और जहां प्रेम नहीं, वहां परमात्मा कहां? प्रेम के लिए तो सरल और विनम्र हृदय चाहिए--सरल और संवेदनशील। और अहंकार जितना प्रगाढ़ होता है, उतना ही हृदय अपनी सरलता और संवेदनशीलता खो देता है।
"धर्म क्या है?" जब कोई मुझ से पूछता है तो मैं कहता हूंः "हृदय की सरलता--हृदय की संवेदनशीलता।"
लेकिन, धर्म के नाम से जो कुछ प्रचलित है, वह तो अहंकार के ही बहुुत से सूक्ष्म और जटिल रूपों की अभिव्यक्ति है।
अहंकार समस्त हिंसा का मूल है।
"मैं हूं"--यह भाव ही हिंसा है। फिर "मैं कुछ हूं"--यह तो अतिहिंसा है। सत्य को, सौंदर्य को, हिंसक चित्त नहीं पा सकता है। क्योंकि हिंसा स्वयं को कठोर कर देती है। कठोरता का अर्थ है, स्वयं के द्वार का बंद हो जाना। और जो स्वयं में बंद है, वह सर्व से कैसे संबंधित हो सकता है?
एक फकीर था, हसन। बहुत दिन का भूखा, वह एक गांव के बाहर जाकर ठहरा था। उसके कुछ साथी भी साथ थे। वे भी लंबी यात्रा से थके-मांदे और भूखे-प्यासे थे। वे जाकर जैसे ही उस खंडहर में ठहरे थे कि एक अपरिचित व्यक्ति बहुत सा भोजन और फल लेकर आया और बोलाः "यह क्षुद्र सी भेंट उनके लिए है जो तपस्वी हैं और संन्यासी हैं।" उस व्यक्ति के चले जाने के बाद हसन ने अपने साथियों से कहाः "मित्रो, मुझे आज की रात्रि भी भूखा ही सोना होगा, क्योंकि मैं कहां हूं तपस्वी, कहां हूं संन्यासी? असल में मैं ही कहां हूं?"
"मैं नहीं हूं"--इसे जो जान लेते हैं, वे परमात्मा को जान लेते हैं।
"मैं नहीं हूं"--इसे जो पा लेते हैं, वे परमात्मा को पा लेते हैं।

अज्ञान मुखर है और ज्ञान मौन

एक दोपहर की बात है। कुछ व्यक्ति आए और कहने लगेः "परमात्मा नहीं है।
और धर्म धोखाधडी है।"
मैं उनकी बात सुन हंसने लगा तो उन्होंने पूछाः "आप हंसते क्यों हैं?" मैंने कहाः "क्योंकि अज्ञान मुखर है और ज्ञान मौन। क्या परमात्मा के होने या न होने के संबंध में कुछ भी कहना इतना आसान है? मनुष्य की क्षुद्र बुद्धि के सभी निर्णय क्या हंसने योग्य ही नहीं हैं? जो स्वयं की बुद्धि की सीमा को जानते हैं, वे निर्णय नहीं लेते, अपितु अवाक रह जाते हैं, और उस रहस्यपूर्ण क्षण में ही वे स्वयं की सीमा का अतिक्रमण भी कर जाते हैं। तब वे स्वयं को भी जानते हैं और सत्य को भी। क्योंकि सत्य स्वयं में है और सत्य में स्वयं की सत्ता है। क्या बूंद सागर में है और बूंद में सागर नहीं है? क्या यह उचित है कि बूंद स्वयं को जाने बिना सागर को जानने चले और जब न जान सके तो कहे कि सागर है ही नहीं। बूंद स्वयं को ही जान ले तो सागर को भी

जान लेती है। परमात्मा का विचार व्यर्थ है। मैं आपसे पूछता हूं--क्या आप स्वयं को जानते हैं? क्या इस शर्त को पूरा किए बिना कोई भी परमात्मा के संबंध में होने या न होने का निर्णय लेने का अधिकारी है?"
"क्या आप स्वयं को जानते हैं?" यह प्रश्न सुन वे मित्र एक दूसरे की ओर देखने लगे थे। क्या आप भी यह प्रश्न सुन ऐसे ही एक दूसरे की ओर नहीं देखने लगेंगे? लेकिन स्मरण रखें कि स्वयं को जाने बिना जीवन में न कोई सार्थकता है, न धन्यता है। उन मित्रों को हजारों साल पूर्व यूनान में हुई एक वार्ता मैंने बताई थी।
एक वृद्ध ऋषि से किसी ने पूछाः "संसार की वस्तुओं में सबसे बडी वस्तु क्या है?"
ऋषि ने कहाः "आकाश। क्योंकि जो भी है, आकाश में है और स्वयं आकाश किसी में नहीं है।"
उसने पूछाः "और श्रेष्ठतम?"
ऋषि ने कहाः "शील। क्योंकि शील पर सब कुछ न्यौछावर है, लेकिन शील किसी
के लिए भी नहीं खोया जा सकता है।"
उसने पूछाः "और सबसे गतिवान?"
ऋषि ने कहाः "विचार।"
उसने पूछाः "और सबसे सरल?"
ऋषि ने कहाः "उपदेश।"
उसने पूछाः "और सबसे कठिन?"
ऋषि ने कहाः "आत्मज्ञान।"
निश्चय ही स्वयं को जानना सर्वाधिक कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि उसे जानने के लिए शेष सब जानना छोडना पडता है। ज्ञान से शून्य हुए बिना स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकता है।
अज्ञान आत्मज्ञान में बाधा है।
ज्ञान भी आत्मज्ञान में बाधा है।
लेकिन एक ऐसी अवस्था भी है, जब न ज्ञान है, न अज्ञान है। उस अंतराल में
ही स्वयं का ज्ञान आविर्भूत होता है।
मैं उस अवस्था को ही समाधि कहता हूं।

धर्म मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार है

मैं धर्म पर क्या कहूं? धर्म मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार है।
एक रात्रि मैं नाव पर था। बडी नाव थी और बहुत से मित्र साथ थे। मैंने उनसे पूछाः "यह सरिता तेजी से भागी जा रही है। लेकिन कहां?" किसी ने कहाः "सागर की ओर।" सच ही सरिताएं सागर की ओर भागी जाती हैं, लेकिन क्या सरिता का सागर की ओर जाना अपनी ही मृत्यु की ओर जाना नहीं? सरिता सागर में मिटेगी ही तो? शायद इसीलिए सरोवर सागर की ओर नहीं जाते हैं! अपनी ही मृत्यु की ओर कौन समझदार जाना पसंद करेगा? इसीलिए तथाकथित समझदार भी धर्म की ओर नहीं जाते हैं। सरिता के लिए जो सागर है, मनुष्य के लिए वही धर्म है। धर्म है, स्वयं को, सर्व में, समग्रीभूत रूप से खो देना। अहंता के लिए वह महामृत्यु है। इसीलिए जो स्वयं को बचाना चाहते हैं, वे अहंकार का सरोवर बन कर परमात्मा के सागर में मिलने से रुके रहते हैं। सागर में मिलने की अनिवार्य शर्त तो स्वयं को मिटाना है। लेकिन वह मृत्यु वस्तुतः मृत्यु नहीं है। क्योंकि उससे होकर जो जीवन पाया जाता है, उसके समक्ष जिसे हम जीवन कहते हैं, वही मृत्यु हो जाता है। मैं स्वयं मर कर ही यह कह रहा हूं।
सत्य-जीवन में प्रवेश के लिए असत्य-जीवन में मरना ही पडता है।
विराट में प्रतिष्ठा के लिए अणु को बिखेरना ही पडता है।
किंतु एक ओर जो मृत्यु है, वही दूसरी ओर जीवन बन जाती है।
अहंकार की मृत्यु आत्मा का जीवन है। वह मिटना नहीं है, वही होना है।
जो इस सत्य को नहीं जान पाते हैं, वे जीवन से ही वंचित रह जाते हैं।

सरोवर सरिता का जीवन नहीं; मृत्यु ही है। यद्यपि उस भांति वह सुरक्षित मालूम होती है। और सागर सरिता की मृत्यु नहीं, जीवन है। यद्यपि उस भांति वह मिटी मालूम होती है।
एक दिन राधा ने कृष्ण से पूछा, "मेरे प्रभु! यह बांसुरी सदा ही तुम्हारे ओंठों पर है। इससे मुझे बडी ईर्ष्या होती है। तुम्हारे मधुमय ओंठों का अमृतस्पर्श इस बांस की पोंगरी को इतना अधिक मिलता है कि मैं जलन से मरी जाती हूं। यह तुम्हारे इतने निकट क्यों है? यह तुम्हें इतनी प्यारी क्यों है? कई बार मैं सोचती हूंः काश मैं कृष्ण की बांसुरी ही होती! भावी जन्मों में मैं तुम्हारे ओठों पर रखी बांसुरी ही होना चाहती हूं!" यह सुन कृष्ण खूब हंसने लगे और बोलेः "प्रिय! बांसुरी होना बहुत कठिन है। शायद उससे अधिक कठिन और कुछ भी नहीं। जो स्वयं को बिल्कुल मिटा दे, वही बांसुरी हो सकता है। यह बांसुरी, बांस की पोंगरी ही नहीं, वस्तुतः प्रेमी का हृदय है। इसका स्वयं का कोई स्वर ही नहीं है। अपने प्रेमी के स्वरों को ही इसने अपना संगीत बना लिया है। मैं गाता हूं, तो वह गाती है। मैं मौन हूं, तो वह मौन है। और इससे ही मेरा जीवन उसका जीवन हो गया है।"
मैं पास ही से निकला था और अनायास ही राधा-कृष्ण की यह बात सुन पडी थी! बांसुरी होने का रहस्य ही संगीत को पाने का रहस्य है। अस्मिता के अंत में ही आत्मा को पाने की कुंजी है।
धर्म क्या है? मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार ही धर्म है।

धर्म जीवन में हो, तभी जीवित बनता है

यह विचारणीय नहीं है कि विचारों में धर्म है या नहीं। विचार नहीं, धर्म जब प्राण ही बनता है, तभी सार्थक है। विचारों में तो धर्म बहुत है। वह धर्म उबारता कहां है? वह तो डुबोता ही है। विचारों की नाव में क्या सागर की यात्रा पर कोई निकलता है? लेकिन सत्य के सागर में तो व्यक्ति विचारों की नाव को लेकर ही निकल जाते हैं। फिर यदि वे किनारों पर ही डूबते देखे जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। विचारों की नाव से तो कागज की नाव भी कहीं दूर ले जा सकती है। वह भी कहीं ज्यादा वास्तविक है। विचार तो स्वप्न की भांति हैं, उन पर भरोसा उचित नहीं है।
धर्म विचार में ही हो, तो उससे ज्यादा असत्य और कुछ भी नहीं है।
धर्म शास्त्रों में ही है, इसीलिए तो मृत है।
धर्म शब्दों में ही है, इसीलिए तो निष्क्रिय है।
धर्म संप्रदायों में ही है, इसीलिए तो धर्म धर्म ही नहीं है।
धर्म तो जीवन में हो, तभी जीवित बनता है। धर्म तो प्राणों के प्राण में हो, तभी सत्य बनता है। और जहां सत्य है, वहां शक्ति है, वहां गति है।
जहां गति है, वहां जीवन है।
एक कैदी की मृत्यु हो गई थी। उसकी मृत देह के पास लोग इकट्ठे थे और रो नहीं, हंस रहे थे। यह देख मैं भी उस भीड में रुक गया था। बहुत बार उस कैदी ने सजाएं काटी थीं और शायद ही कोई जुर्म हो जो उसने न किया हो। उसके जीवन का अधिकांश कारागृहों में ही व्यतीत हुआ था। लेकिन आदमी वह बडे धार्मिक विचारों का था! धर्म की रक्षा के लिए, एक लट्ठ तो सदा ही उसके हाथों में रहता था। जब वह गालियां नहीं बकता था तो मूछों पर ताव देता हुआ राम-राम ही जपता रहता था। वह सदा कहा करता थाः "अनादर से मृत्यु भली!" यह उसका जीवन-सिद्धांत था। एक कागज में धार्मिक विधि से लिखवा कर उसने अपने इस मंत्र को ताबीज में बंद करवा कर भुजा में बांध रखा था। फिर जब उसे इतने से ही तृप्ति न हुई तो अंतिम बार जब वह कारागृह से छूटा तो उसने वे शब्द अपनी दोनों भुजाओं पर गुदवा भी लिए थे। रामनाम तो उसके शरीर में अनेक जगह गुदा ही हुआ था! उसका मृत शरीर सुबह की धूप में पडा था। उसका जीवन उसके जीवन की और उसकी दोनों बाहें उसके जीवन-दर्शन की घोषणा कर रही थीं! और तभी मैं समझ सका कि लोग रो क्यों नहीं रहे थे, और हंस क्यों रहे थे।
धर्म के नाम पर मनुष्य की जो स्थिति है, वह भी ठीक ऐसी ही है।
मैं आपसे यह जरूर पूछना चाहता हूं कि उस स्थिति पर रोना उचित है या कि हंसना उचित है?

जीवन क्या है?

जीवन क्या है?
एक पवित्र यज्ञ। लेकिन उन्हीं के लिए जो सत्य के लिए स्वयं की आहुति देने को तैयार होते हैं।
जीवन क्या है?
एक अमूल्य अवसर। लेकिन उन्हीं के लिए जो साहस, संकल्प और श्रम करते हैं।
जीवन क्या है?
एक वरदान देती चुनौती। लेकिन उन्हीं के लिए जो उसे स्वीकारते हैं, और उसका सामना करते हैं।
जीवन क्या है?
एक महान सषंर्घ। लेकिन उन्हीं के लिए जो स्वयं की शक्ति को इकट्ठा कर विजय के लिए जूझते हैं।
जीवन क्या है?

एक भव्य जागरण। लेकिन उन्हीं के लिए जो स्वयं की निद्रा और मूच्र्छा
से लडते हैं।
जीवन क्या है?
एक दिव्य गीत। लेकिन उन्हीं के लिए जिन्होंने स्वयं को परमात्मा का वाद्य बना लिया है।
अन्यथा, जीवन एक लंबी और धीमी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।
जीवन वही हो जाता है, जो हम जीवन के साथ करते हैं।
जीवन मिलता नहीं, जीता जाता है।
जीवन स्वयं के द्वारा स्वयं का सतत सृजन है। वह नियति नहीं, निर्माण है।
एक विधिवेत्ता ने अपनी अति लंबी और उबानेवाली जिरह के मध्य में क्रोध
से न्यायाधीश को कहाः "महानुभाव, जूरी सोए हुए हैं!" न्यायाधीश ने कहाः "मित्र, आपने ही उन्हें सुला दिया है। कृपा करके कुछ ऐसा कीजिए कि वे जाग सकें। मैं भी बीच में कई बार सोते-सोते बचा हूं।"
जीवन सोया हुआ अनुभव हो तो जानना चाहिए कि हमने कुछ किया है, जिससे वह
सो गया है। जीवन दुख प्रतीत हो तो जानना चाहिए कि हमने कुछ किया है, जिससे वह दुख हो गया है। जीवन तो हमारी ही प्रतिध्वनि है। वह तो हमारा ही प्रतिफलन है।

वह वहीं है और वही है, जहां सदा से है और जो है!

वर्षा की अंधेरी रात्रि है। आकाश में बादल घिरे हैं। बीच-बीच में बिजली तेजी से कडकती और चमकती है। एक युवक उसकी चमक के प्रकाश में ही अपना मार्ग खोज रहा था। अंततः वह उस झोपडी के द्वार पर पहुंच ही गया, जहां एक अत्यंत वृद्ध फकीर पूरे जीवन से रह रहा है। वह वृद्ध उस झोपडी को छोड कर कभी भी कहीं नहीं गया था। जब उससे कोई पूछता था कि क्या आपने संसार बिल्कुल ही नहीं देखा है, तो वह कहता थाः "देखा है, खूब देखा है। स्वयं में ही क्या सारा संसार नहीं है?"
मैं भी उस वृद्ध को जानता हूं। वह मेरे भीतर बैठा हुआ है। सच में ही उसने कभी अपना आवास नहीं छोडा है। वह वहीं है और वही है, जहां सदा से है और जो है। और मैं उस युवक को भी भलीभांति जानता हूं, क्योंकि मैं ही तो वह युवक भी हूं!
वह युवक थोडी देर सी.िढयों पर खडा रहा। फिर उसने डरते-डरते द्वार पर दस्तक दी। भीतर से आवाज आईः "कौन है? क्या खोजता है?"
वह युवक बोलाः "यह तो ज्ञात नहीं कि मैं कौन हूं? हां, वर्षों से आनंद
की तलाश में जरूर भटक रहा हूं। आनंद को खोजता हूं और वही खोज आपके द्वार पर ले आई है।" भीतर से हंसी की आवाज आई और कहा गयाः "जो स्वयं को ही नहीं जानता, वह आनंद को कैसे पा सकता है? उस खोज में दीये के तले अंधेरा नहीं चल सकता। लेकिन यह जानना भी बहुत जानना है कि मैं स्वयं को नहीं जानता हूं, और इसीलिए मैं द्वार खोलता हूं, लेकिन स्मरण रहे कि दूसरे का द्वार खुलने से वस्तुतः कोई द्वार नहीं खुलता है!"
फिर द्वार खुले। बिजली की कौंध में युवक ने वृद्ध फकीर को सामने खडा देखा। उसका सौंदर्य अपूर्व है। लेकिन वह बिल्कुल नग्न है। वस्तुतः सौंदर्य सदा ही निर्वस्त्र है। वस्त्र वहीं है, जहां कुरूपता है। युवक उसके चरणों में बैठ गया। उसने वृद्ध के चरणों पर सिर रख कर पूछाः "आनंद क्या है? आनंद कहां है?"
यह सुन वह वृद्ध पुनः हंसने लगा और बोलाः "मेरे प्रिय! आनंद अशरणता में है। अशरण होते ही आनंद की बाढ़ आ जाती है। मेरे चरण छोड दो, सबके चरण छोड दो। आनंद को किसी की शरण में खोजते हो, यही भूल है। बाहर खोजते हो, यही भूल है। वस्तुतः उसे खोजते हो, यही भूल है। जो बाहर है, उसे खोजा जा सकता है। जो स्वयं में है, उसे कैसे खोजोगे? सब खोज छोडो और देखो! वह तो सदा से ही स्वयं में मौजूद है!"

फिर उस वृद्ध ने अपनी झोली में से दो फल निकाले और बोलाः "मैं ये दो फल तुम्हें देता हूं। ये बडे अदभुत फल हैं। पहले को खा लो तो तुम समझ सकते हो कि आनंद क्या है और दूसरे को खा लो तो तुम स्वयं ही आनंद हो सकते हो। लेकिन एक ही फल खा सकते हो। क्योंकि एक के खाते ही दूसरा विलीन हो जाता है। और स्मरण रहे कि दूसरा फल खाने पर आनंद क्या है, यह नहीं जाना जा सकता है। अब चुनाव तुम्हारे हाथ में है! बोलो, क्या चुनना है?"
वह युवक थोडी देर झिझका, फिर बोलाः "मैं आनंद को पहले जानना चाहता हूं, क्योंकि जाने बिना उसे पाया ही कैसे जा सकता है?"
वह वृद्ध फकीर फिर हंसने लगा और बोलाः "मैं देखता हूं कि क्यों तुम्हारी भटकन इतनी लंबी हो गई है। ऐसे तो वर्षों नहीं, जन्मों के बाद भी आनंद नहीं पाया जा सकता। क्योंकि आनंद के ज्ञान की खोज आनंद की अभीप्सा ही नहीं है। आनंद का ज्ञान और आनंदानुभूति तो विरोधी धु्रव हैं। आनंद का ज्ञान, आनंद नहीं है। उलटे वही तो दुख है। आनंद को जानना और स्वयं आनंद न होना, यही तो दुख है। इसीलिए तो मनुष्य पौधों और पशु-पक्षियों से भी कहीं ज्यादा दुखी है। लेकिन अज्ञान भी आनंद नहीं है। वह केवल दुख के प्रति मूच्र्छा है। आनंद तो है ज्ञान और अज्ञान दोनों के अतिक्रमण में। अज्ञान है, दुख के प्रति मूच्र्छा। ज्ञान है, दुख के प्रति बोध। आनंद है, ज्ञान और अज्ञान दोनों से मुक्ति। ज्ञान और अज्ञान, दोनों के अतिक्रमण का अर्थ हैः मन से ही मुक्ति। और मन से मुक्त होते ही व्यक्ति स्वयं में आ जाता है। वह स्वरूप-प्रतिष्ठा ही आनंद है। वही मोक्ष है। वही परमात्मा है।"

वस्त्र धोखा दे सकते हैं

एक मित्र साधु हो गए हैं। साधु होने के बाद आज पहली बार ही मिलने आए थे। उन्हें गैरिक वस्त्रों में देखा तो मैंने कहाः "मैं तो सोचता था कि सच ही तुम साधु हो गए हो! लेकिन यह क्या? ये वस्त्र क्यों रंग डाले हैं?" मेरे अज्ञान पर मुस्कुराते हुए वे बोलेः "साधु का अपना वेश होता है।"
यह सुन मैं सोच में पड गया तो उन्होंने कहाः "इसमें सोच की क्या बात है?" मैंने कहाः "बहुत सोच की बात है। क्योंकि साधु का कोई वेश नहीं है और जहां वेश है, वहां साधु नहीं है।" शायद मेरी बात वे समझे नहीं और उन्होंने पूछाः "साधु कुछ तो पहनेगा ही, या आप चाहते हैं, साधु नग्न ही रहे?" मैंने कहाः "पहनने की मनाही नहीं है, न पहनने की शर्त नहीं है। प्रश्न कुछ विशेष पहनने या कुछ भी न पहनने के आग्रह का है। मित्र, वेश वस्त्रों में नहीं, आग्रह में है।" वे बोलेः "वेश से स्मृति रहती है कि मैं साधु हूं।"
अब हंसने की मेरी बारी थी। मैंने कहाः "मैं जो हूं, उसकी स्मृति रखनी
ही नहीं होती है। मैं जो नहीं हूं, उसकी ही स्मृति को सम्हालना पडता है। और फिर जो साधुता वस्त्रों से याद रहे, क्या वह भी साधुता है? वस्त्र तो बहुत ऊपर हैं और उथले हैं। चमडी भी गहरी नहीं है। मांस-मज्जा भी बहुत गहरी नहीं है। मन भी गहरा नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त और कोई ऐसी गहराई नहीं है, जो साधुता का आवास बन सके। और स्मरण रहे कि ऊपर जिनकी दृष्टि है, वे भीतर से वंचित रह जाते हैं। वस्त्रों पर जिनका ध्यान है, वे उस ध्यान के कारण ही आत्मा के ध्यान में नहीं हो पाते हैं। संसार और क्या है? वस्त्रों पर केंद्रित चित्त ही तो संसार है। जो वस्त्रों से मुक्त हो जाता है, वही साधु है।"
फिर उनसे मैंने एक कहानी कही। एक बहुरुपिए ने किसी सम्राट के द्वार
पर जाकर कहाः "पांच रुपये दान में चाहिए।" सम्राट बोलाः "मैं कलाकार को पुरस्कार तो दे सकता हूं, लेकिन दान नहीं।" बहुरुपिया मुस्कुराया और वापस लौट गया। लेकिन जाते-जाते कह गयाः "महाराज, मैं भी दान ले सका तभी पुरस्कार लूंगा। कृपा कर इसे स्मरण रखिए।"
बात आई और गई। कुछ दिनों के बाद राजधानी में एक अदभुत साधु के आगमन की खबर विद्युत की भांति फैली। नगर के बाहर एक युवा साधु समाधि-मुद्रा में बैठा था। न तो कुछ बोलता था, न आंखें ही खोलता था। और न हिलता-डुलता था।

लोगों के झुंड के झुंड उसके दर्शन को पहुंच रहे थे। फूलों के, फलों के, मेवा-मिष्ठान के ढेर उसके पास लग गए थे, लेकिन वह तो समाधि में था और उसे कुछ भी पता नहीं था। एक दिन बीत गया। दूसरा दिन भी बीत गया। भीड रोज बढ़ती ही जाती थी। तीसरे दिन सुबह स्वयं सम्राट भी साधु के दर्शन को गए। उन्होंने एक लाख स्वर्ण मुद्राएं साधु के चरण में रख आशीर्वाद की प्रार्थना की। किंतु साधु तो पर्वत की भांति अचल था। कोई भी प्रलोभन उसे डिगाने में असमर्थ था। सम्राट भी असफल होकर राजमहल लौट गए। साधु का चारों ओर जय-जयकार हो रहा था। लेकिन चैथे दिन लोगों ने देखा कि रात्रि में साधु विलीन हो गया था। उस दिन सम्राट के दरबार में वह बहुरुपिया उपस्थित हुआ और बोलाः "एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान तो आप मेरे सामने कर ही चुके हैं, अब मेरा पांच रुपये का पुरस्कार मुझे मिल जाए!"
सम्राट तो हैरान हो गया। उसने बहुरुपिए से कहाः "पागल, तूने एक लाख स्वर्ण-मुद्राएं क्यों छोडीं? और अब पांच रुपये मांग रहा है!" बहुरुपिए ने कहाः "महाराज, जब आपने दान नहीं दिया था, तो मैं भी दान कैसे स्वीकार करता? बस अपने श्रम का पुरस्कार ही पर्याप्त है। फिर तब मैं साधु था। झूठा ही सही, तो भी साधु था। और साधु के वेश की लाज रखनी आवश्यक थी!"
इस कहानी पर विचार करने से बहुत सी बातें ख्याल में आती हैं। बहुरुपिए साधु हो सकते हैं। क्यों? क्योंकि साधुओं के तथाकथित वेश में बहुरुपियों को सुविधा है। वेश जहां महत्वपूर्ण है, वहां सहज ही बहुरुपियों को सुविधा है। फिर वह बहुरुपिया तो साधु-चित्त था, इसलिए एक लाख स्वर्ण-मुद्राएं छोड कर पांच रुपये लेने को राजी हुआ, लेकिन सभी बहुरुपियों से इतने साधु-चित्त होने की आशा करनी उचित नहीं है। सम्राट धोखे में पडा, वेश के कारण। वेश धोखा दे सकता है, इसीलिए धोखा देने वालों ने वेश को प्रधान बना लिया है। और जब व्यक्ति दूसरों को धोखा देने में सफल हो जाता है, तो फिर वह सफलता स्वयं को भी धोखा देने का सुदृढ़ आधार बन जाती है।
कहते हैंः "सत्यमेव जयते।" सत्य विजयी होता है। यह बडा खतरनाक मान-दंड है, क्योंकि इसके कारण जो जीत जाता है, उसे सत्य मान लेने का विचार पैदा हो जाता है। सत्य सफल होता है तो फिर जो सफल होता है वही सत्य है, इस निष्पत्ति तक पहुंचने में मन को देर नहीं लगती है। ऐसी साधुता सत्य नहीं है, जिसे बहुरुपिए भी साध सकते हों, क्योंकि फिर बहुरुपियों के लिए इससे सुगम साधना और कोई नहीं हो सकती है। बहुरुपिए साधु हो सकते हैं, तो साधु भी बहुरुपिए हो सकते हैं!
वस्तुतः साधु का कोई वेश नहीं है। वेश तो बहुरुपिए का ही हो सकता है।
और जब साधु का वेश ही नहीं है, तो वेश की लाज का तो अस्तित्व ही कहां है? वह स्मृति भी साधु की नहीं, बहुरुपिए की ही है। लेकिन ऐसी स्मृति भी उस बहुरुपिए की ही होगी जो स्वयं को बहुरुपिया ही जानता है। जिन्होंने स्वयं को बाह्य वेश के आधार पर साधु ही मान लिया है, वे तो रामलीला के ऐसे राम हैं, जिन्होंने स्वयं को राम ही मान लिया है।
ऐसे एक राम को मैं जानता हूं। रामलीला में राम बनने के बाद उन्होंने फिर राम का वेश कभी उतारा ही नहीं! किंतु लोग उन्हें पागल कहते थे। बहुरुपिए साधु बन सकते हैं, किंतु जब वे स्वयं को साधु ही समझने भी लगते हैं, तब वे बहुरुपिए ही नहीं, विक्षिप्त भी हो जाते हैं।

स्वतंत्रता से व्यक्ति सम्राट होता है

एक सम्राट आकंठ चिंता में डूबा हुआ था। चिंताएं जब डुबाती हैं तो पूरा ही डुबाती हैं। क्योंकि एक चिंता जिस मार्ग से भीतर प्रवेश करती है, उसी मार्ग से और चिंताएं भी प्रविष्ट हो जाती हैं। जो एक को मार्ग देता है, वह अनजाने ही अनेक को मार्ग दे देता है। इसीलिए चिंताएं सदा भीड में आती हैं। अकेली एक चिंता से मिलन कभी भी किसी का नहीं होता है।

यह आश्चर्यजनक है कि सम्राट अक्सर ही चिंता में डूबे रहते हैं, हालांकि वस्तुतः सम्राट तो केवल वे ही हैं जो चिंता से मुक्त हो गए हैं। चिंता की दासता इतनी बडी है कि एक साम्राज्य की शक्ति भी उसे पोंछ नहीं पाती। शायद इसी कारण साम्राज्यों की शक्ति भी चिंता की सेवा में ही सन्नद्ध हो जाती है
मनुष्य सम्राट होना चाहता है, शक्ति और स्वतंत्रता के लिए, किंतु अंत में पाता है कि सम्राट से ज्यादा अशक्त, परतंत्र और पराजित व्यक्ति कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि दूसरों को दास बनाने वाला व्यक्ति अंततः स्वयं ही दासों का दास हो जाता है। हम जिसे बांधते हैं उससे हम स्वयं भी बंध जाते हैं। स्वतंत्रता के लिए दूसरों की दासता से ही मुक्ति नहीं, दूसरों को दास बनाने की वृत्ति से भी मुक्ति आवश्यक है।
वह सम्राट भी ऐसे ही बंध गया था। जीतने तो वह स्वर्ग को निकला था, लेकिन जीत कर पाया था कि नरक के सिंहासन पर बैठ गया है। अहंकार जो भी जीतता है, वह अंततः नरक ही सिद्ध होता है। अहंकार स्वर्ग को तो जीत ही नहीं सकता, क्योंकि स्वर्ग तो वहीं है, जहां अहंकार नहीं है। अब इस स्वयं जीते हुए नरक से वह मुक्त होना चाहता था। लेकिन स्वर्ग को पाना कठिन, खोना सरल है। नरक को पाना सरल, खोना कठिन है। वह चिंताओं की लपटों से मुक्त होना चाहता था। कौन नहीं होना चाहता है? नरक के सिंहासन पर कौन बैठे रहना चाहता है? लेकिन जो भी सिंहासन पर बैठना चाहते हैं, उन्हें नरक के सिंहासन पर ही बैठना पडता है। और स्मरण रहे कि स्वर्ग में कोई सिंहासन नहीं है। नरक के सिंहासन ही दूर से स्वर्ग के सिंहासन दिखाई पडते हैं। रात और दिन, सोते और जागते, वह सम्राट चिंताओं से लड रहा था। लेकिन एक हाथ से तो व्यक्ति चिंताओं को हटाता है, और हजारों हाथों से स्वयं ही उन्हें आमंत्रित भी करता रहता है। उस सम्राट को चिंताओं से भी छूटना था और चक्रवर्ती भी होना था। शायद वह सोचता था कि चक्रवर्ती सम्राट होकर ही वह चिंताओं से छूट सकेगा। मनुष्य की मूढ़ता ऐसे ही निष्कर्ष निकालती रहती है। इसीलिए उसे रोज नये राज्य चाहिए थे। संध्या का डूबता सूर्य उसकी साम्राज्य-सीमा को वहां न पावे, जहां उसने सुबह उगते समय पाया था। वह चांदी के सपने देखता और सोने की सांसें लेता था। जीवन के लिए तो ऐसे सपने और सांसें बहुत घातक हैं, क्योंकि चांदी के सपने प्राणों पर जंजीरें बन जाते हैं और सोने की सांसें आत्मा में जहर घोलने लगती हैं। और महत्वाकांक्षा की मदिरा से आई बेहोशी को तो बस मृत्यु ही तोड पाती है।
सम्राट के जीवन की दोपहरी बीत गई थी। जीवन-दिवस उतार पर था। मृत्यु अपने संदेश भेजने लगी थी। शक्ति रोज कम होती जाती थी और चिंताएं रोज बढ़ती जाती थीं। उसके प्राण बडे संकट में थे--मनुष्य युवावस्था में जो बोता है, बु.ढापे में उसकी ही फसल उसे काटनी पडती है। विष के बीज बोते समय नहीं, फसल काटते समय ही कष्ट देते हैं। बीज में ही जो इस दुख को देख लेते हैं, वे बोते ही नहीं हैं। बीज से तो मुक्त हुआ जा सकता है, लेकिन बोने पर फसल को भी काटना ही पडता है। उससे बचने का कोई भी उपाय नहीं है। वह सम्राट भी अपनी ही बोई फसलों के बीच में खडा था। उनसे बचने को वह आत्मघात तक का विचार करता था, लेकिन सम्राट होने का मोह और भविष्य में चक्रवर्ती सम्राट होने की आशा, वह भी नहीं करने देती थी। जीवन तो वह खो सकता था, खो ही दिया था, लेकिन सम्राट होना छोडना उसकी सामथ्र्य के बाहर की बात थी। वह वासना ही तो उसका जीवन थी। ऐसी वासनाएं ही, जो जीवन मालूम होती हैं, जीवन को नष्ट कर देती हैं।
एक दिन वह अपनी चिंताओं से पीछा छुडाने के लिए पर्वत के चरणों में स्थित हरियाली की ओर निकल गया था। लेकिन चिंता को छोड भागना तो चिता छोड कर भागने से भी कठिन है। स्वयं की चिता से निकल कर तो कोई भाग भी सकता है, लेकिन चिंता से नहीं, क्योंकि चिता बाहर और चिंता भीतर है। जो भीतर है, वह सदा साथ ही है। आप जहां हैं, वहीं वह है। स्वयं को आमूल परिवर्तित किए बिना उससे छुटकारा नहीं है। सम्राट जंगल में घोडे पर भागा चला जाता था। अचानक बांसुरी के स्वर उसे सुनाई पडे। स्वरों में कुछ था कि वह ठिठक गया और उस संगीत की दिशा में ही अपने घोडे को ले चला। एक पहाडी झरने के पास, वृक्षों की छाया तले, एक युवा चरवाहा बांसुरी बजा कर नाच रहा था। उसकी भेडें पास

में ही विश्राम कर रही थीं। सम्राट ने उससे कहाः "तू तो ऐसा आनंदित है मानो तुझे कोई साम्राज्य मिल गया हो?" वह युवक बोलाः "दुआ कर कि परमात्मा मुझे कोई साम्राज्य न दे, क्योंकि अभी तो मैं सम्राट हूं, लेकिन साम्राज्य मिलने से कोई भी सम्राट नहीं रह जाता है।" सम्राट हैरान हुआ और उससे पूछाः "जरा सुनूं तो कि तेरे पास क्या है, जिससे तू सम्राट है।" वह युवक बोलाः "संपत्ति से नहीं, स्वतंत्रता से व्यक्ति सम्राट होता है। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, सिवाय स्वयं के। मेरे पास मैं हूं, और इससे बडी और कोई संपदा नहीं है। और फिर मैं सोच ही नहीं पाता हूं कि मेरे पास क्या नहीं है, जो सम्राट के पास है? सौंदर्य को देखने के लिए मेरे पास आंखें हैं। प्रेम करने के लिए मेरे पास हृदय है, और प्रार्थना में प्रवेश करने की क्षमता है। सूरज जितनी रोशनी मुझे देता है, उससे ज्यादा सम्राट को नहीं देता और चांद जितनी चांदनी मुझ पर बरसाता है, उससे ज्यादा सम्राट पर नहीं बरसाता है। खूबसूरत फूल जितने सम्राट के लिए खिलते हैं, उतने ही मेरे लिए भी खिलते हैं। सम्राट पेट भर खाता और तन भर पहनता है। मैं भी वही करता हूं। फिर सम्राट के पास क्या है, जो मेरे पास नहीं है? शायद, साम्राज्य की चिंताएं--लेकिन उनसे परमात्मा बचाए, क्योंकि चिंता से तो चिता बेहतर है। हां, बहुत-कुछ मेरे पास जरूर है जो सम्राट के पास नहीं है; मेरी स्वतंत्रता, मेरी आत्मा, मेरा आनंद, मेरा नृत्य, मेरा संगीत। मैं जो हूं, उससे आनंदित हूं और इसलिए मैं सम्राट हूं।"
सम्राट ने उस युवक की बातें सुनीं और बोलाः "प्यारे युवक! तू ठीक कहता है। जा, अपने गांव में सबसे कह दे कि सम्राट भी यही कह रहा था!"

स्वयं का विवेक

एक दिन मैं सुबह-सुबह उठ कर बैठा ही था कि कुछ लोग आ गए। उन्होंने मुझसे कहाः "आप के संबंध में कुछ व्यक्ति बहुत आलोचना करते हैं। कोई कहता है आप नास्तिक हैं। कोई कहता है अधार्मिक। आप इन सब व्यर्थ की बातों का उत्तर क्यों नहीं देते?" मैंने कहाः "जो बात व्यर्थ है, उसका उत्तर देने का सवाल ही कहां है? क्या उत्तर देने योग्य मान कर हम स्वयं ही उसे सार्थक नहीं मान लेते हैं?" यह सुन कर उनमें से एक ने कहाः "लेकिन लोक में गलत बात चलने देना भी तो ठीक नहीं।" मैंने कहाः "ठीक कहते हैं। लेकिन जिन्हें आलोचना ही करना है, निंदा ही करनी है, उन्हें रोकना कभी भी संभव नहीं हुआ है। वे बडे आविष्कारक होते हैं और सदा ही नये मार्ग निकाल लेते हैं। इस संबंध में मैं आपको एक कथा सुनाता हूं।" और जो कथा मैंने उनसे कही, वही मैं आपसे भी कहता हूं।
पूर्णिमा की रात्रि थी। शुभ्र ज्योत्स्ना में सारी पृथ्वी डूबी हुई थी। शंकर और पार्वती अपने प्यारे नंदी पर सवार होकर भ्रमण को निकले थे। किंतु वे जैसे ही थोडे आगे गए थे कि कुछ लोग उन्हें मार्ग में मिले। उन्हें नंदी पर बैठे देख कर उन लोगों ने कहाः "देखो बेशर्मों को। बैल की जान में जान नहीं है और दो-दो उस पर चढ़ कर बैठे हैं!" उनकी यह बात सुनी तो पार्वती नीचे उतर गईं और पैदल चलने लगीं। किंतु थोडे ही दूर जाने पर फिर कुछ लोग मिले। वे बोलेः "अरे मजा तो देखो, सुकुमार अबला को पैदल चला कर यह कौन बैल पर बैठा चला जा रहा है भाई! बेशर्मी की भी हद है!" यह सुन कर शंकर नीचे उतर आए और पार्वती को नंदी पर बैठा दिया। लेकिन कुछ ही कदम गए होंगे कि फिर कुछ लोगों ने कहाः "कैसी बेहया औरत है; पति को पैदल चला कर खुद बैल पर बैठी है। मित्रो, कलियुग आ गया है।" ऐसी स्थिति देख आखिर दोनों ही नंदी के साथ पैदल चलने लगे। किंतु थोडी ही दूर न जा पाए होंगे कि कुछ लोगों ने कहाः "देखो, मूर्खों को। इतना तगडा बैल साथ में है और ये पैदल चल रहे हैं।" अब तो बडी कठिनाई हो गई। शंकर और पार्वती को कुछ भी करने को शेष न रहा। नंदी को एक वृक्ष के नीचे रोक वे विचार करने लगे। अब तक नंदी चुप था। अब वह हंसा और बोलाः "एक रास्ता मैं बताऊं? अब आप दोनों मुझे अपने सिरों पर उठा लीजिए।" यह सुनते ही शंकर और पार्वती को होश आया और दोनों फिर नंदी पर सवार

हो गए। लोग फिर भी कुछ न कुछ कहते निकलते रहे। असल में लोग बिना कुछ कहे निकल भी कैसे सकते हैं? अब शंकर और पार्वती चांदनी की सैर का आनंद लूट रहे थे और भूल गए थे कि मार्ग पर कोई भी निकल रहा है।
जीवन में यदि कहीं पहुंचना हो तो राह में मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति की बात पर ध्यान देना आत्मघातक है।
वस्तुतः जिस व्यक्ति की सलाह का कोई मूल्य है, वह कभी बिना मांगे सलाह देता ही नहीं है।
और यह भी स्मरण रहे कि जो स्वयं के विवेक से नहीं चलता है, उसकी गति हवा के झोंकों में उडते सूखे पत्तों की भांति हो जाती है।

जीवन और मृत्यु भिन्न-भिन्न नहीं हैं

एक व्यक्ति ने कनफ्यूशियस से जाकर कहाः "मैं बहुत थक गया हूं। अब विश्रांति चाहता हूं। क्या कोई मार्ग है?" कनफ्यूशियस ने उससे कहाः "जीवन और विश्रांति विरोधी शब्द हैं। जीवन चाहते हो तो विश्रांति मत चाहो। विश्रांति तो मृत्यु है।" उस व्यक्ति के माथे पर चिंता की रेखाएं सिमट आईं और उसने पूछाः "तो क्या मुझे विश्रांति कभी मिलेगी ही नहीं?" कनफ्यूशियस ने कहाः "मिलेगी, अवश्य मिलेगी।" उसने सामने फैले कब्रगाह की ओर संकेत करके कहाः "इन कब्रों को देखो। इन्हीं में विश्रांति है। इन्हीं में शांति है।"
मैं कनफ्यूशियस से सहमत नहीं हूं। जीवन और मृत्यु भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जो है, वे उसकी ही आती-जाती श्वासों की भांति हैं। जीवन न तो मात्र कर्म है, और न मृत्यु ही मात्र विश्रांति। वस्तुतः जो जीवन में ही विश्रांति में नहीं है, वह मृत्यु में भी शांति में नहीं हो सकता है। क्या दिवस की अशांति रात्रि की निद्रा को भी अशांत नहीं कर देती है? क्या जीवन भर की अशांति की प्रतिध्वनियां ही मृत्यु में भी पीडा नहीं देंगी? मृत्यु तो वैसी ही होगी, जैसा कि जीवन है। वह जीवन की विरोधी नहीं, वरन जीवन की ही पूर्णता है। जीवन में अकर्मण्यता न हो, यह तो ठीक है, क्योंकि वह तो जीते जी ही मुर्दा होना है। लेकिन जीवन मात्र कर्म ही हो, यह भी ठीक नहीं है। यह भी जीवन नहीं, जडता है--जड यांत्रिकता है। जीवन की परिधि पर कर्म हो और केंद्र में अकर्म, तभी जीवन की परिपूर्णता फलित होती है। बाहर कर्म, भीतर विश्रांति। बाहर गति, भीतर स्थिति। कर्मपूर्ण व्यक्तित्व जब शांत आत्मा से संयुक्त होता है तभी पूर्ण मनुष्य का जन्म होता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन तो शांत होता ही है, उसकी मृत्यु भी मोक्ष बन जाती है।

धर्म भेद नहीं, अभेद है

मैं एक सभा में गया था। अछूतों की सभा थी। अछूत की कल्पना ही मेरे हृदय को आंसुओं से भर देती है। वहां पहुंच कर भी मैं बहुत दुखी और उदास था। मनुष्य ने मनुष्य के साथ यह क्या किया है? मनुष्य-मनुष्य के बीच अलंघ्य दीवारें खडी करने वाले लोग भी धार्मिक समझे जाते हैं! धर्म का इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है? यदि यही धर्म है तो फिर अधर्म क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि अधर्म के अड्डों ने धर्म की पताकाएं चुरा ली हैं और शैतान के शास्त्र परमात्मा के शास्त्र बने हुए हैं।
धर्म भेद नहीं, अभेद है। धर्म द्वैत नहीं, अद्वैत है। धर्म तो दीवारें बनाने में नहीं, मिटाने में है। लेकिन तथाकथित धर्म भेद ही उपजाते रहे हैं और दीवारें ही बनाते रहे हैं। उनकी शक्ति मनुष्य को तोडने और विभाजित करने में ही सक्रिय रही है। निश्चय ही यह अकारण नहीं हुआ है। असल में मनुष्य को मनुष्य से अलग किए बिना न तो संगठन बन सकते हैं, और न शोषण ही हो सकता है। यदि मनुष्यता समान है और एक है, तो शोषण के मूलाधार ही नष्ट हो

जाते हैं। शोषण के लिए तो असमानता अनिवार्य है, वर्ग और वर्ण आवश्यक हैं। इसीलिए, धर्म अनेक रूपों में असमानता के, वर्गों और वर्णों के समर्थक रहे हैं। वर्ग-वर्णहीन समाज तो अनायास ही शोषण-विरोधी हो जाता है। मनुष्यता की समानता को स्वीकार करना शोषण को अस्वीकार करना है।

फिर मनुष्य-मनुष्य में भेद डाले बिना संगठन और संप्रदाय भी नहीं बन सकते हैं। भेद से भय आता है, द्वेष और घृणा आती है, और अंततः शत्रुता पैदा होती है। शत्रुता से संगठन जन्मते हैं। संगठन मित्रता से नहीं, शत्रुता से जन्मते हैं। प्रेम नहीं, घृणा ही उनकी आधारशिला है। शत्रुता के भय से संगठन पैदा होते हैं। संगठन शक्ति देते हैं। शक्ति शोषण का सामथ्र्य बनती है और अधिकार-लिप्सा की तृप्ति भी। वही फैल कर साम्राज्य-लिप्सा भी बन जाती है। धर्म ऐसे ही छिपे-छिपे राजनीति बन जाते हैं। धर्म आगे चलता है, राजनीति पीछे चलती है। धर्म आवरण ही रह जाता है और राजनीति प्राण बन जाती है। वस्तुतः जहां संगठन हैं, संप्रदाय हैं, वहां धर्म नहीं है, बस राजनीति ही है। धर्म तो साधना है। वह संगठन नहीं है। अनेक धर्म-संगठनों के नाम से भिन्न-भिन्न राजनीतियां ही अपनी चालें चलती रहती हैं। संगठन के अभाव में धर्म तो हो सकता है, लेकिन धर्म नहीं हो सकते हैं, और न ही हो सकते हैं पुजारी और पुरोहित और उनका व्यवसाय। परमात्मा को भी व्यवसाय बना लिया गया है। उसके साथ भी न्यस्तस्वार्थ संबंधित हो गए हैं। इससे ज्यादा अशोभन और अधार्मिक क्या हो सकता है? लेकिन प्रचार की महिमा अपार है और सतत प्रचार से निकट असत्य भी सत्य बन जाते हैं। फिर जो पुजारी, पुरोहित स्वयं शोषण में हैं, वे यदि शोषण-व्यवस्था के समर्थक हों तो आश्चर्य ही क्या है? धर्मों ने समाज की शोषण-व्यवस्था के लिए भी सुदृढ़ स्तंभों का काम किया है। काल्पनिक सिद्धांतों का जाल बुन कर उन्होंने शोषकों को पुण्यात्मा और शोषितों को पापी सिद्ध किया है। शोषितों को समझाया गया है कि यह उनके दुष्कर्मों का फल है। सच ही धर्मों ने लोगों को खूब अफीम खिलाई है।

एक अछूत वृद्ध ने सभा के अंत में मुझसे पूछा थाः "क्या मैं मंदिरों में आ सकता हूं?" मैंने कहाः "मंदिरों में? लेकिन किसलिए? परमात्मा तो स्वयं ही पुरोहितों के मंदिरों में कभी नहीं जाता है।"

प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा का और कोई मंदिर नहीं है। शेष सब मंदिर और मस्जिद पुरोहितों की ईजाद हैं। परमात्मा से उन मंदिरों का दूर का भी संबंध नहीं। परमात्मा और पुरोहितों में कभी बोल-चाल ही नहीं रहा। मंदिर पुरोहितों की, और पुरोहित शैतान की सृष्टि हैं। वे शैतान के शिष्य हैं। इस कारण ही उनके शास्त्र और संप्रदाय मनुष्य को मनुष्य से लडाने के केंद्र रहे हैं। उन्होंने बातें तो प्रेम की की हैं, और जहर घृणा का फैलाया है। असल में जहर शक्कर-च.ढी गोलियों में देना ही आसान होता है। फिर भी मनुष्य पुरोहितों से सावधान नहीं है। जब भी उसे परमात्मा का स्मरण आता है, वह पुरोहितों के चक्कर में पड जाता है। मनुष्य के परमात्मा से संबंध क्षीण होने का आधारभूत कारण यही है। पुरोहित सदा से ही परमात्मा की हत्या करने में संलग्न रहे हैं। उनके अतिरिक्त परमात्मा का हत्यारा और कोई भी नहीं है। परमात्मा को चुनना है तो पुजारी को नहीं चुना जा सकता है। उन दोनों की पूजा एक ही साथ नहीं की जा सकती। पुजारी जैसे ही मंदिर में प्रवेश करता है, वैसे ही परमात्मा मंदिर से बाहर हो जाता है। परमात्मा से नाता जोडने के लिए पुरोहित से मुक्त होना आवश्यक है। भक्त और भगवान के बीच वही बाधा है। प्रेम किसी को भी बीच में पसंद नहीं करता है।

एक भोर की बात है। अभी अंधेरा ही था। जैसे ही मंदिर के द्वार खुले कि एक अछूत मंदिर की सी.िढयां चढ़ कर द्वार पर पहुंच गया। वह द्वार के भीतर पैर रखने को ही था कि पुजारी क्रोध से गरजाः "रुक, रुक, पामर! एक पग भी आगे ब.ढाया तो तेरा सर्वनाश हो जाएगा। मूढ़! परमात्मा के मंदिर की पवित्र सी.िढयां तूने अपवित्र कर दी हैं।" सहमे हुए अछूत ने उठा हुआ पैर वापस ले लिया। उसकी आंखों में आंसू आ गए। परमात्मा के लिए उसके प्यासे हृदय में जैसे किसी ने छुरी भोंक दी थी। वह रोता हुआ बोलाः "हे परमात्मा, मेरा ऐसा कौन सा पाप है, जिसके कारण तेरे दर्शन मुझे नहीं हो सकते हैं?" परमात्मा की ओर से पुजारी ने कहाः "तू जन्म से अशुद्ध है, पाप-भंडार है।" उस अछूत ने प्रार्थना कीः "फिर मैं शुद्धि के लिए साधना करूंगा, लेकिन प्रभु-दर्शन के

बिना नहीं मरना चाहता हूं।" और फिर वर्षों तक उस अछूत का कोई पता न चला। वह न मालूम कहां चला गया था। लोग उसे भूल ही गए थे और तब अचानक एक दिन वह गांव में आया। गांव के प्रवेश-द्वार पर ही वह देवालय था। पुजारी ने उसे देवालय के पास से जाते देखा। एक अपूर्व तेज उसके चेहरे पर था। एक अपूर्व शांति उसकी आंखों में थी। उसके आसपास भी जैसे प्रकाश का एक मंडल था। लेकिन उसने देवालय की ओर आंख भी उठा कर नहीं देखा। वह उस ओर से बिल्कुल निरपेक्ष और असंग दीख रहा था। लेकिन पुजारी से न रहा गया। उसने उसे पुकारा और पूछाः "क्यों रे! क्या शुद्धि की साधना पूरी कर ली?" वह अछूत इस पर हंसा और उसने स्वीकृति में सिर हिलाया। पुजारी ने पूछाः "फिर मंदिर में क्यों नहीं आता?" वह अछूत बोलाः "महाराज, क्या करूं आकर? प्रभु ने दर्शन दिए तो कहाः मेरी खोज में मंदिर क्यों गया था? वहां कुछ भी नहीं है। मैं तो स्वयं ही कभी उन मंदिरों में नहीं गया हूं। और जाऊं भी तो क्या पुजारी मुझे वहां घुसने दे सकते हैं?"

धर्म को किसी भी भांति खरीदा ही नहीं जा सकता है

एक करोडपति ने बहुत से मंदिर बनवाए हैं। मेरे परिचित हैं और बडी आशा
से उन्होंने धर्मों में पूंजी लगाई है। बडे कुशल व्यवसायी हैं और एक के दस कमाने के अभ्यस्त हैं। धर्म के धंधे में भी वे किसी से पीछे नहीं रहना चाहते। असल में पीछे रहने की उन्हें आदत ही नहीं। धन में पीछे नहीं रहे, तो धर्म में पीछे कैसे रहें? इस लोक में तो आगे और ऊपर हैं ही, परलोक की व्यवस्था भी कर ली है। स्वर्ग निश्चित है, इसीलिए वे भी निशिं्चत हैं। धन से धरती ही नहीं, स्वर्ग भी खरीदा जाता है। इसीलिए ही तो धन की इतनी महिमा है। धन धर्म से भी ऊपर है। क्योंकि धर्म से धन तो नहीं, लेकिन धन से धर्म जरूर ही खरीदा जा सकता है। और जब धन से धर्म मिल सकता है, तो अधर्म से धन इकट्ठा करने का भय भी मिट जाता है। वैसे बिना अधर्म के धन इकट्ठा ही नहीं होता है। धन मूलतः चोरी है। धन शोषित रक्त ही है। लेकिन धर्म की गंगा में सब पाप धुल जाते हैं। धर्म की गंगा वहीं बहने लगती है, जहां धन के भगीरथ इशारा करते हैं। इस भांति धर्म ही अधर्म का आधार बन जाता है। लेकिन धर्म अधर्म का आधार कैसे बन सकता है? निश्चय ही ऐसा धर्म, धर्म नहीं है। धन से जो खरीदा जा सके, वह धर्म नहीं है।
मैंने सुना हैः
एक प्रभात किसी धनपति ने स्वर्ग का द्वार खटखटाया।
चित्रगुप्त ने पूछाः "बंधु, कौन हो?"
"मैं! मुझे नहीं जानते? क्या यहां तक मेरे स्वर्गवासी होने की खबर अभी
तक नहीं पहुंची है?"
चित्रगुप्त ने पूछाः "आप चाहते क्या हैं?"
उस धनपति ने क्रोध से कहाः "क्या यह भी कोई पूछने की बात है? मैं स्वर्ग में प्रवेश चाहता हूं।" और यह कह कर उसने रुपयों का एक बंडल अपने कोट से निकाल कर चित्रगुप्त को देना चाहा। चित्रगुप्त यह देख खूब हंसे और कहाः "बंधु, पृथ्वी की आदतें यहां काम नहीं दे सकती हैं। और न वहां के सिक्के ही यहां चलते हैं। कृपा कर अपने रुपये अपने पास ही वापस रख लें।" किंतु, इससे तो धनपति एकदम दरिद्र और दीन हो गया। जिस शक्ति के बल पर गर्मी थी, वही निसत्व सिद्ध हो गई थी।
चित्रगुप्त ने पूछाः "स्वर्ग-प्रवेश के योग्य क्या काम किया है आपने?"
धनपति ने बहुत खोज-बीन कर कहाः "एक बुढ़िया को दस पैसे दान में दिए थे।" चित्रगुप्त ने तुरंत अपने सहकारी से पूछाः "क्या यह बात सत्य है?" सहकारी ने कागजों को देखभाल कर कहाः "जी हां, यह बात सच है।"
चित्रगुप्त ने धनपति से पुनः पूछाः "इसके अलावा और आपने क्या किया है?"
धनपति ने फिर याद करके कहाः "एक अनाथ लडके को पांच पैसे दिए थे।"

सहकारी ने कागजातों में खोजा तो यह बात भी सच थी।

चित्रगुप्त ने कहाः "और कुछ?"

धनपति ने कहाः "बस, यही दो बातें याद आ रही हैं।"

चित्रगुप्त ने अपने सहकारी से पूछाः "क्या किया जाए?"

सहकारी ने कहाः "पंद्रह पैसे वापस कर दिए जाएं और नरक भेज दिया जाए। पंद्रह पैसे में तो स्वर्ग बहुत सस्ता है!"

लेकिन क्या और ज्यादा पैसों से स्वर्ग मिल सकता है? पैसा तो पैसा ही है। एक के ऊपर एक रखने से चाहे ढेर बडा हो जाए, लेकिन पैसा तो फिर भी पैसा ही है।

वस्तुतः धर्म को किसी भी भांति खरीदा ही नहीं जा सकता है। न थोडे धन से, न ज्यादा धन से। क्योंकि धन का सिक्का धर्म के जगत में नहीं चलता है। धन के त्याग से भी धर्म को नहीं खरीदा जा सकता है। क्योंकि धन के त्याग से खरीदना भी धन से ही खरीदना है। धर्म के मूल्यों में धन का कोई भी मूल्य नहीं है। धन की भाषा ही धर्म के लिए असंगत है। जो भी खरीदा जा सकता है, वह स्वरूप नहीं है। स्वरूप ही धर्म है और स्वरूप ही स्वर्ग है। वह स्वयं के बाहर नहीं है। वह तो स्वयं में सदा ही उपस्थित है। धर्म में प्रवेश नहीं करना है, वरन जाग कर जानना है कि मैं तो सदा से ही धर्म में हूं। मछली जैसे सागर में है वैसे ही हम धर्म में हैं। लेकिन नींद में मछली सागर में होते हुए भी सागर के बाहर हो जाती है। यही हमारी दशा है। संसार में होना स्वप्न में होना है। भोग और त्याग सब स्वप्न हैं। महल और मंदिर सब स्वप्न हैं। न तो स्वप्न में बनाए महल और न मंदिर ही जागरण को ला सकते हैं। जागरण का मार्ग और ही है। वह तो चेतना को दृश्य से द्रष्टा की ओर लाने में निहित है। ध्यान दृश्य में जितना लीन होता है, निद्रा उतनी ही गहरी हो जाती है। और ध्यान जितना द्रष्टा की ओर गतिमय होता है, जागरण उतना ही निकट आता है। ध्यान जब अपनी समग्रता में द्रष्टा पर आ जाता है, तब दृश्य और द्रष्टा सब विलीन हो जाते हैं और जो समग्रता शेष रह जाती है, वही धर्म है। वही सत्य है। वही मोक्ष है।

सत्य की खोज में पहला सत्य क्या है?

सत्य की खोज में पहला सत्य क्या है? व्यक्ति जो है, जैसा है उसे स्वयं को वैसा ही जानना पहला सत्य है। यह सी.ढी का पहला पाया है। किंतु अधिकांशतः सी.िढयों में यह पहला पाया ही नहीं होता है और इसलिए वे केवल देखने मात्र के लिए सी.िढयां रह जाती हैं। उनसे चढ़ना नहीं हो सकता है। कोई चाहे तो उन्हें कंधों पर ढो सकता है, लेकिन उनसे चढ़ना असंभव है।

मनुष्य औरों को धोखा देता है, स्वयं को धोखा देता है, और परमात्मा को भी धोखा देना चाहता है। फिर इस धोखे में वह स्वयं ही खो जाता है। जिस धुएं से उसकी आंखें अंधी हो जाती हैं, उसे वह स्वयं ही पैदा करता है।

क्या हमारी सभ्यता, संस्कृति और धर्म ऐसे ही धोखों के सुंदर नाम नहीं हैं? क्या इन सब धुओं के भीतर हमने अपनी असभ्यता, असंस्कृति और अधर्म को ही छिपाने की असफल चेष्टा नहीं की है? और परिणाम क्या हुआ है? परिणाम यह है कि सभ्यता के कारण ही हम सभ्य नहीं हो पाते हैं, और धर्म के कारण ही धार्मिक नहीं हो पाते हैं। क्योंकि असत्य कभी सत्य तक ले जानेवाला मार्ग नहीं बन सकता है। सत्य ही सत्य का द्वार है। स्वयं के प्रति सारी वंचनाओं को छोडने से ही सत्य का मार्ग निष्कंटक और निर्विरोध हो सकता है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अंततः स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता है। एक न एक दिन धोखे टूट ही जाते हैं और सत्य प्रकट होते हैं। इसीलिए आत्म-वंचना अंततः आत्मग्लानि में परिणत होती है। किंतु पूर्व-बोध जो कर सकता है, वह पश्चात्ताप नहीं कर सकता है।

मैं क्यों धोखा देना चाहता हूं?

क्या सब धोखों के पीछे भय ही नहीं है?

लेकिन क्या धोखों से भय की मूल जड नष्ट होती है? धोखे से उलटे वे जडें
और दब जाती हैं, और गहरी हो जाती हैं। इस भांति वे मरती नहीं, और सप्राण और सशक्त होती हैं। इसीलिए फिर उन्हें ढांकने और छिपाने को और भी बडे धोखे आविष्कार करने होते हैं। और फिर धोखों का एक अंतहीन सिलसिला शुरू होता है, जिससे भीरुता बढ़ती ही चली जाती है और व्यक्ति दीनता और कायरता का पुंज मात्र रह जाता है। फिर तो वह स्वयं से भी भय खाने लगता है। वह भय नरक बन जाता है।
जीवन में भय के कारण वंचनाएं ओढ़ना उचित नहीं है। उचित है भय के मूल कारण को खोजना। भय को दबाना नहीं, उघाडना आवश्यक है। दबे हुए भय से मुक्ति असंभव है। भय को जानकर, उघाड कर ही उससे मुक्त हुआ जा सकता है।
इसलिए ही साहस को मैं सबसे बडा धार्मिक गुण मानता हूं। जीवन के मंदिर में पीछे से घुसने के लिए कोई द्वार नहीं है। परमात्मा केवल उसका ही स्वागत करता है जो साहसपूर्वक संघर्ष करता है।
इंग्लैंड के एक महानगर में शेक्सपियर का कोई नाटक चल रहा था। बहुत वर्षों पहले की बात है। तब सज्जनों के लिए नाटक देखना पाप समझा जाता था और धर्म-पुरोहितों के तो देखने का सवाल ही नहीं था। धर्म का तो ठेका ही उन्हीं का है। लेकिन एक पादरी नाटक देखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा था। उसने वही विधि खोजी, जो हम सब जीवन में खोजते हैं। उसने थियेटर हाल के मैनेजर को लिख कर पूछाः "क्या आप नाटक के पिछले द्वार से मेरे प्रवेश का इंतजाम कर सकेंगे, ताकि कोई मुझे न देख सके?" मैनेजर का जवाब आयाः "खेद है, यहां कोई ऐसा दरवाजा नहीं है, जो ईश्वर को नजर न आता हो!"
मैं भी यही आपसे कहना चाहता हूं। सत्य के प्रवेश के लिए पीछे का कोई द्वार नहीं है। परमात्मा सब द्वारों पर खडा है।

मृत्यु क्या है? क्या वह जीवन की ही परिपूर्णता नहीं है?

एक यात्रा की बात है। कुछ वृद्ध स्त्री-पुरुष तीर्थ जा रहे थे। एक संन्यासी भी उनके साथ थे। मैं उनकी बात सुन रहा था। संन्यासी उन्हें समझा रहे थेः "मनुष्य अंत समय में जैसे विचार करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। जिसने अंत सम्हाल लिया, उसने सब सम्हाल लिया। मृत्यु के क्षण में परमात्मा का स्मरण होना चाहिए। ऐसे पापी हुए हैं, जिन्होंने भूल से अंत समय में परमात्मा का नाम ले लिया था और आज वे मोक्ष का आनंद लूट रहे हैं।" संन्यासी की बात अपेक्षित प्रभाव पैदा कर रही थी। वे वृद्धजन अपने अंत समय में तीर्थ जा रहे थे और मनचाही बात सुन उनके हृदय फूले नहीं समाते थे। सच ही सवाल जीवन का नहीं, मृत्यु का ही है और जीवन भर के पापों से छूटने को भूल से ही सही, बस परमात्मा का नाम लेना ही पर्याप्त है। फिर वे तो भूल से नहीं, जान-बूझ कर तीर्थ जा रहे थे। उनकी प्रसन्नता स्वाभाविक ही थी। इसी प्रसन्नता में वे संन्यासी की सेवा भी कर रहे थे।
मैं उनके सामने ही बैठा था। संन्यासी की बात सुन कर हंसने लगा तो संन्यासी ने सक्रोध पूछाः "क्या आप धर्म पर विश्वास नहीं करते हैं?" मैंने कहाः "धर्म कहां है? अधर्म के सिक्के ही धर्म बन कर चल रहे हैं।
खोटे सिक्के ही विश्वास मांगते हैं, असली सिक्के तो आंख चाहते हैं। विश्वास की उन्हें आवश्यकता ही नहीं। विवेक जहां अनुकूल नहीं है, वहीं विश्वास मांगा जाता है। विवेक की हत्या ही तो विश्वास है। लेकिन न तो अंधे मानने को राजी होते हैं कि अंधे हैं और न विश्वासी ही राजी होते हैं। अंधों ने और अंधों के शोषकों ने मिल कर जो षड्यंत्र किया है, उसने करीब-करीब धर्म की जड काट डाली है। धर्म की साख है और अधर्म का व्यापार है।
यह जो आप इन वृद्धों को समझा रहे हैं, क्या उस पर कभी विचार किया है? जीवन कैसा ही हो, बस अंत समय में अच्छे विचार होने चाहिए? क्या इससे भी अधिक बेईमानी की कोई बात हो सकती है। और क्या यह संभव है कि बीज नीम के, वृक्ष नीम का और फल आम के लगा रहे हैं? जीवन जैसा है, उसका निचोड ही तो मृत्यु के समय चेतना के समक्ष हो सकता है। मृत्यु क्या है? क्या वह जीवन

की ही परिपूर्णता नहीं है? वह जीवन के विरोध में कैसे हो सकती है? वह तो उसका ही विकास है। वह तो जीवन का ही फल है। ये कल्पनाएं काम नहीं देंगी कि पापी अजामिल मरते समय अपने लडके नारायण को बुला रहा था और इसलिए भूल से भगवान का नाम उच्चरित हो जाने से सब पापों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो गया था। मनुष्य का पापी मन क्या-क्या आविष्कार नहीं कर लेता है? और इन भयभीत लोगों का शोषण करने वाले व्यक्ति तो सदा ही मौजूद हैं। फिर भगवान का क्या कोई नाम है? भगवान की स्मृति तो एक भाव-दशा है। अहंकार-शून्यता की भावदशा ही परमात्मा की स्मृति है। जीवन भर अहंकार की धूल को जो स्वयं से झाडता है, वही अंततः अहं-शून्यता के निर्मल दर्पण को उपलब्ध कर पाता है। यह भूल से किसी नाम के उच्चार से तो हो नहीं सकता। यदि कोई किसी नाम को भगवान मान कर जीवन भर धोखा खाता रहे तो भी उसकी चेतना भगवत-चैतन्य से भरने की बजाय और जडता से ही भर जाएगी। किसी भी शब्द की पुनरुक्ति-मात्र, चेतना को जगाती नहीं, और सुलाती है। फिर अजामिल पता नहीं अपने नारायण को किसलिए बुला रहा था। बहुत संभव तो यही है कि अंत समय को निकट जान कर अपने जीवन की कोई अधूरी योजना उसे समझा जाना चाहता हो। अंतिम क्षणों में स्वयं के जीवन का केंद्रीय तत्व ही चेतना के समक्ष आता है और आ सकता है।"
फिर एक घटना भी मैंने उनसे कही।
एक वृद्ध दुकानदार मृत्युशय्या पर पडा था। उसकी शय्या के चारों ओर उसके परिवार के शोकग्रस्त व्यक्ति जमा थे। उस वृद्ध ने अचानक आंखें खोलीं और बहुत विकल होकर पूछाः "क्या मेरी पत्नी यहां है?"
उसकी पत्नी ने कहाः "हां, मैं यहां हूं।"
"और मेरा बडा लडका?"
"वह भी है।"
"और बाकी पांचों लडके?"
"वे भी हैं।"
"और चारों लडकियां?"
"सभी यहीं हैं। तुम चिंता न करो और आराम से लेट जाओ," पत्नी ने कहा। मरणासन्न रोगी ने बैठने की कोशिश करते हुए कहाः "फिर दुकान पर कौन बैठा है?"

आनंद कहां है?

आप पूछते हैंः आनंद कहां है?
मैं एक कथा कहता हूं। उस कथा में ही आपका उत्तर है।
एक दिन संसार के लोग सोकर उठे ही थे कि उन्हें एक अदभुत घोषणा सुनाई पडी। ऐसी घोषणा इसके पूर्व कभी भी नहीं सुनी गई थी। किंतु वह अभूतपूर्व घोषणा कहां से आ रही है, यह समझ में नहीं आता था। उसके शब्द जरूर स्पष्ट थे। शायद वे आकाश से आ रहे थे, या यह भी हो सकता है कि अंतस से ही आ रहे हों। उनके आविर्भाव का स्रोत मनुष्य के समक्ष नहीं था।
"संसार के लोगो, परमात्मा की ओर से सुखों की निर्मूल्य भेंट! दुखों से मुक्त होने का अचूक अवसर! आज अर्धरात्रि में, जो भी अपने दुखों से मुक्त होना चाहता है, वह उन्हें कल्पना की गठरी में बांध कर गांव के बाहर फेंक आवे और लौटते समय वह जिन सुखों की कामना करता हो, उन्हें उसी गठरी में बांध कर सूर्योदय के पूर्व घर लौट आवे। उसके दुखों की जगह सुख आ जाएंगे। जो इस अवसर से चूकेगा, वह सदा के लिए ही चूक जाएगा। यह एक रात्रि के लिए पृथ्वी पर कल्पवृक्ष का अवतरण है। विश्वास करो और फल लो। विश्वास फलदायी है।" सूर्यास्त तक उस दिन यह घोषणा बार-बार दुहराई गई थी। जैसे-जैसे रात्रि करीब आने लगी, अविश्वासी भी विश्वासी होने लगे। कौन ऐसा मूढ़ था, जो इस अवसर से चूकता? फिर कौन ऐसा था जो दुखी नहीं था और कौन ऐसा था, जिसे सुखों की कामना न थी?
सभी अपने दुखों की गठरियां बांधने में लग गए। सभी को एक ही चिंता थी
कि कहीं कोई दुख बांधने से छूट न जाए।

आधी रात होते-होते संसार के सभी घर खाली हो गए थे और असंख्य जन चींटियों की कतारों की भांति अपने-अपने दुखों की गठरियां लिए गांव के बाहर जा रहे थे। उन्होंने दूर-दूर जाकर अपने दुख फेंके कि कहीं वे पुनः न लौट आवें और आधी रात बीतने पर वे सब पागलों की भांति जल्दी-जल्दी सुखों को बांधने में लग गए। सभी जल्दी में थे कि कहीं सुबह न हो जाए और कोई सुख उनकी गठरी में अनबंधा न रह जाए। सुख तो हैं असंख्य और समय था कितना अल्प? फिर भी किसी तरह सभी संभव सुखों को बांध कर लोग भागते-भागते सूर्योदय के करीब-करीब अपने-अपने घरों को लौटे। घर पहुंच कर जो देखा तो स्वयं की ही आंखों पर विश्वास नहीं आता था! झोपडों की जगह गगनचुंबी महल खडे थे। सब कुछ स्वर्णिम हो गया था। सुखों की वर्षा हो रही थी। जिसने जो चाहा था, वही उसे मिल गया था।
यह तो आश्चर्य था ही, लेकिन एक और महाआश्चर्य था! यह सब पाकर भी लोगों
के चेहरों पर कोई आनंद नहीं था। पडोसियों का सुख सभी को दुख दे रहा था। पुराने दुख चले गए थे--लेकिन उनकी जगह बिल्कुल ही अभिनव दुख और चिंताएं साथ में आ गई थीं। दुख बदल गए थे, लेकिन चित्त अब भी वही थे और इसलिए दुखी थे। संसार नया हो गया था, लेकिन व्यक्ति तो वही थे और इसलिए वस्तुतः सब कुछ वही था।
एक व्यक्ति जरूर ऐसा था जिसने दुख छोडने और सुख पाने के आमंत्रण को नहीं माना था। वह एक नंगा वृद्ध फकीर था। उसके पास तो अभाव ही अभाव थे और उसकी नासमझी पर दया खाकर सभी ने उसे भी चलने को बहुत समझाया था। जब सम्राट भी स्वयं जा रहे थे तो उस दरिद्र को तो जाना ही था।
लेकिन उसने हंसते हुए कहा थाः "जो बाहर है वह आनंद नहीं है, और जो भीतर
है उसे खोजने कहां जाऊं? मैंने तो सब खोज छोड कर ही उसे पा लिया है।"
लोग उसके पागलपन पर हंसे थे और दुखी भी हुए थे। उन्होंने उसे वज्रमूर्ख ही समझा था। और जब उनके झोपडे महल हो गए थे और मणि-माणिक्य कंकड-पत्थरों की भांति उनके घरों के सामने पडे थे, तब उन्होंने फिर उस फकीर को कहा थाः "क्या अब भी अपनी भूल समझ में नहीं आई?" लेकिन फकीर फिर हंसा था और बोला थाः "मैं भी यही प्रश्न आप लोगों से पूछने की सोच रहा था।"

मृत्यु में ऐसा क्या भय है?

मैं एक 84 वर्ष के बूढे आदमी की मरणशय्या के पास बैठा था। जितनी बीमारियां एक ही साथ एक व्यक्ति को होनी संभव हैं, सभी उन्हें थीं। एक लंबे अर्से से वे असह्य पीडा झेल रहे थे। अंत में आंखें भी चली गई थीं। बीच-बीच में मूच्र्छा भी आ जाती थी। बिस्तर से तो अनेक वर्षों से नहीं उठे थे। दुख ही दुख था। लेकिन फिर भी वे जीना चाहते थे। ऐसी स्थिति में भी जीना चाहते थे। मृत्यु उन्हें अभी भी स्वीकार नहीं थी।
जीवन चाहे साक्षात मृत्यु ही हो, फिर भी मृत्यु को कोई स्वीकार नहीं करता है। जीवन का मोह इतना अंधा और अपूर्ण क्यों है? यह जीवेषणा क्या-क्या सहने को तैयार नहीं कर देती है? मृत्यु में ऐसा क्या भय है? और जिस मृत्यु को मनुष्य जानता ही नहीं, उसमें भय भी कैसे हो सकता है? भय तो ज्ञात का ही हो सकता है। अज्ञात का भय कैसा? उसे तो जानने की जिज्ञासा ही हो सकती है। उन वृद्ध को जो भी देखने जाता था, उसके सामने ही रोने लगते थे। शिकायत
ही शिकायत। मृत्यु-क्षण तक भी शिकायत नहीं मरती है? शायद, मृत्यु के बाद भी वे साथ देती हैं!
डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों, सभी से वे ऊब चुके थे, लेकिन अभी निराश नहीं हुए थे। किसी न किसी चमत्कार के बल पर आगे भी अभी जीने की उन्हें आशा थी। मैंने एकांत देख कर उनसे पूछाः "क्या आप अब भी जीना चाहते हैं?" निश्चय ही वे चैंके थे। सोचा होगाः यह कैसी अपशकुन की बात मैंने पूछी। फिर बडे कष्ट से बोले थेः "अब तो परमात्मा से एक ही प्रार्थना है कि उठा ले! लेकिन जो वे कह रहे थे, उसकी असत्यता उनके चेहरे के कण-कण से प्रकट होती थी।

एक कथा मुझे स्मरण आई थी।
एक लकडहारा था। दीन, दरिद्र, दुखी और वृद्ध। पेट भर पाने योग्य लकडियां भी वह अब नहीं काट पाता था। उसकी जीवन-शक्ति रोज-रोज क्षीण होती जाती थी। संसार में आगे-पीछे भी उसका कोई नहीं था। जंगल में लकडियां काट कर एक दिन वह उन्हें बांध रहा था। तभी उसके मुंह से निकलाः "इस वृद्धावस्था के कष्टपूर्ण जीवन से छुटकारा दिलाने के लिए मौत भी मुझे नहीं आती!"
अपने मुंह से इन शब्दों के निकलते ही उसने किसी को पीछे खडा हुआ अनुभव किया। कोई अदृश्य और अत्यंत ठंडा हाथ भी उसके कंधे पर था। उसके तन-प्राण कांप उठे। उसने मुड कर देखा, कोई भी तो नहीं था। फिर भी कोई जरूर था। उसके कंधे पर ठंडे हाथ का भार स्पष्ट था। इसके पहले कि वह कुछ बोलता, वह अदृश्य शक्ति स्वयं ही बोलीः "मैं मृत्यु हूं। बोलो मैं तुम्हारे लिए क्या करूं?" उस बू.ढे लकडहारे की बोलती ही खो गई। सर्दी के दिन थे, लेकिन उसके शरीर
से पसीना धारों में बहने लगा। किसी भांति शक्ति जुटा कर उसने कहाः "हे देवी! मुझ गरीब पर दया करो। मुझ से तुम्हें क्या काम है?"
मृत्यु ने कहाः "मैं हाजिर हूं, क्योंकि तुमने मुझे स्मरण किया था।"
उस वृद्ध लकडहारे ने होश सम्हाला और बोलाः "क्षमा कर। मैं तो भूल ही गया। इस लकडियों के गट्ठर को उठाने में मेरी मदद कर दें। इसलिए ही आपको पुकारा था। भविष्य में एक तो मैं बुलाऊंगा ही नहीं और भूल से यदि बुला भी लूं तो भी आपको आने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु-कृपा से मैं बहुत आनंद में हूं।"
मैं यह सोच ही रहा था कि एक व्यक्ति ने आकर उन वृद्ध को कहाः "एक फकीर आया है। उसकी चमत्कारिक शक्तियों की बडी चर्चा है। क्या आपको दिखाने के लिए मैं उन्हें बुला लाऊं?" वृद्ध के चेहरे पर आशा की चमक आ गई और वे किसी तरह उठ कर बैठ गए और बोलेः "फकीर कहां है? जल्दी बुलावें। मैं ऐसा कोई ज्यादा बीमार भी तो नहीं हूं। असल में डाक्टर ही मुझे मार डालेंगे। परमात्मा बचाना चाहता है, इसीलिए तो मैं उन सबके बावजूद बचा हूं। प्रभु जिसे बचाना चाहता है, उसे कौन मार सकता है?"

फिर मैंने विदा ली। किंतु घर पहुंचा ही था कि पीछे से खबर पहुंची कि
वे वृद्ध अब इस संसार में नहीं हैं।

अहंकार जीवन में दीवारें बनाता है

एक करोडपति ने महल बनवाया था। उसका जीवन बीतते-बीतते वह महल बन कर तैयार हुआ था। अक्सर ही ऐसा होता है। रहने के लिए जिसे बनाते हैं, उसे बनाने में ही रहने वाला चुक जाता है। निवास तैयार करते हैं और समाधि तैयार होती है। यही हुआ था। महल तो बन गया था लेकिन बनाने वाले के जाने के दिन आ गए थे। किंतु महल अद्वितीय बना था। अहंकार तो अद्वितीयता ही चाहता है। उसके लिए ही तो मनुष्य अपनी आत्मा भी खो देता है। "अहं" जो है ही नहीं, सर्वप्रथम होकर ही तो स्वयं के होने का अनुभव कर पाता है। सौंदर्य में, शिल्प में, सुविधा में, सभी भांति वह भवन अद्वितीय था, और धनपति के पैर पृथ्वी पर नहीं पड रहे थे। राजधानी भर में उसकी ही चर्चा थी। जो भी देखता था मंत्रमुग्ध हो जाता था। अंततः स्वयं सम्राट भी उसे देखने आया। वह भी अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर सका। उसके अपने महल भी फीके पड गए थे। भीतर तो उसे ईर्ष्या ही हुई पर ऊपर से उसने प्रशंसा ही की। धनपति ने तो इसकी ईर्ष्या को ही वस्तुतः प्रशंसा माना। सम्राट की प्रशंसा का आभार मानते हुए उसने कहाः "सब परमात्मा की कृपा है।" लेकिन, हृदय में तो वह जानता था कि सब मेरा ही पुरुषार्थ है! सम्राट को विदा देते समय द्वार पर उसने कहाः "एक ही द्वार मैंने महल में रखा है। ऐसे में चोरी असंभव है। कोई भीतर आवे या बाहर जावे, इसी द्वार से आना-जाना अनिवार्य है।" एक वृद्ध भी द्वार पर खडा था। भवन-पति की बात सुन कर वह जोर से हंस पडा। सम्राट ने उससे पूछाः "क्यों हंसते हो?" वह बोलाः "कारण भवन-पति के कान में ही बता सकता हूं।" फिर वह भवन-पति के पास गया और कान में बोलाः "महल के द्वार की तारीफ सुन कर ही मुझे हंसी आ गई थी। इस पूरे महल में वही तो एक खराबी है। मृत्यु उसी द्वार से आएगी और आपको बाहर ले जाएगी। वह द्वार न होता तो सब ठीक था।" जीवन के जो भी भवन मनुष्य बनाता है, उन सभी में यह खराबी रहती है। इसीलिए तो कोई भी भवन आवास सिद्ध नहीं होता है। एक द्वार सभी में शेष रह जाता है, और वही मृत्यु का द्वार बन जाता है।
लेकिन क्या जीवन का ऐसा भवन संभव नहीं है, जिसमें मृत्यु के लिए कोई द्वार ही न हो?
हां, संभव है।
किंतु उस भवन में दीवारें नहीं होती हैं, बस द्वार ही द्वार होते हैं।
द्वार ही द्वार होने से द्वार दिखाई नहीं पडते हैं।
और मृत्यु वहीं आ सकती है, जहां द्वार है। जहां द्वार ही द्वार हैं, वहां द्वार ही नहीं है।
अहंकार जीवन में दीवार बनाता है। फिर स्वयं में आने-जाने के लिए उसे
कम से कम एक द्वार तो रखना ही होता है। यही द्वार मृत्यु का भी द्वार है। अहंकार का भवन मृत्यु से नहीं बच सकता है। उसमें एक द्वार सदा ही शेष है। वह स्वयं ही वह द्वार है। यदि वह एक भी द्वार न छोडे तो भी मरेगा। वह आत्मघात है।
किंतु, अहंकार-शून्य जीवन भी है। वही अमृत-जीवन है। क्योंकि मृत्यु
को आने के लिए उसमें कोई द्वार ही नहीं है और न मृत्यु को गिराने के लिए उस भवन में कोई दीवार ही है।
अहंकार जहां नहीं है, वहां आत्मा है।
आत्मा है आकाश जैसी असीम और अनंत। और जो असीम है, और अनंत है, वही अमृत है।

प्रार्थना मांग नहीं है

मैं एक छोटे से गांव में अतिथि था। गांव तो छोटा था, लेकिन उसमें मंदिर भी था, मस्जिद भी थी। लोग बडे धार्मिक थे और सुबह होते ही अपने-अपने पूजागृहों में जाते थे। रात्रि में भी पूजागृह से लौट कर ही सोते थे। सदा धार्मिक उत्सव भी होते रहते थे। लेकिन, उस गांव का जीवन और गांवों जैसा ही था। धर्म और जीवन एक-दूसरे को छूते नहीं मालूम होते थे। जीवन का अपना रास्ता है और धर्म का अपना। दोनों समानांतर चलते हैं, इसलिए उनके कहीं मिलने का सवाल ही नहीं है। परिणाम में धर्म निष्प्राण हो जाता है और जीवन अधर्म। जो सारी पृथ्वी पर हुआ है, वही उस गांव में भी हुआ था। मैं एक-एक, दो- दो दिन गांव के सभी पूजागृहों में गया और परमात्मा के तथाकथित भक्तों और पुजारियों के हृदय में झांकने की चेष्टा की। उनकी आंखों में खोजा। उनकी प्रार्थनाओं में कुरेदा। उनसे बातें कीं। उनके जीवन में टटोला। उनका आना- जाना, उठना-बैठना देखा। उनमें से कुछ के घर भी गया। उनकी दुकानों पर भी बैठा। जागते में उन्हें समझा। निद्रा में भी उनकी बडबडाहट सुनी। उनके पडोसियों से उनके संबंध में पूछा। एक भगवान के भक्तों से दूसरे भगवान के भक्तों के संबंध में सुना। एक मंदिर के पुजारियों से दूसरे मंदिर के पुजारियों के बाबत में जानकारी ली। एक धर्म के पंडितों से दूसरे धर्म के पंडितों के संबंध में चर्चा की। ज्ञात हुआ कि धार्मिक दीखनेवाला वह गांव बिल्कुल ही अधार्मिक था। धर्म का आवरण था, अधर्म का जीवन था। अधर्म के जीवन के लिए ही धर्म के आवरण की जरूरत थी। क्या हत्यागृहों को छिपाने के लिए ही पूजागृह नहीं हैं? परमात्मा के पुजारियों को परमात्मा से कोई भी संबंध नहीं था। परमात्मा को वे जरूर ही बचा कर रखना चाहते थे, क्योंकि परमात्मा पैसे लाता था। परमात्मा के भक्तों को भी परमात्मा से कोई प्रेम नहीं था। संसार की भय-भीतियों से वे परमात्मा में सुरक्षा खोज रहे थे, और संसार के प्रलोभनों में सहायक होने को वे उससे प्रार्थना कर रहे थे। जिनका यह जीवन बुझने को था, वे आगे के लिए उससे आश्वासन चाह रहे थे। सबका प्रेम सुख से था, भोग से था, संसार से था और इसलिए उनकी कोई भी प्रार्थना परमात्मा की प्रार्थना नहीं थी। अपनी प्रार्थनाओं में वे परमात्मा को छोड कर और सब-कुछ मांग रहे थे। वस्तुतः प्रार्थना में जब तक कोई मांग है, तब तक वह प्रार्थना परमात्मा के लिए है ही नहीं। प्रार्थना जब मांग से मुक्त होती है, तभी वह प्रार्थना बनती है। परमात्मा के लिए भी मांग हो, तो भी वह प्रार्थना परमात्मा की प्रार्थना नहीं रह जाती है। समस्त मांग से मुक्त होकर ही प्रार्थना परमात्मा से युक्त होती है। निश्चय ही ऐसी प्रार्थना स्तुति नहीं हो सकती है। स्तुति प्रार्थना नहीं, खुशामद है। स्तुति रिश्वत है। वह निम्न मन की अभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही परमात्मा के प्रति धोखा भी है। और परमात्मा को धोखा देने से ज्यादा मूढ़ता और क्या हो सकती है? उस भांति मनुष्य स्वयं ही स्वयं के हाथों ठगा जाता है। मित्र, प्रार्थना मांग नहीं है। वह प्रेम है। वह आत्मदान है।
प्रार्थना स्तुति नहीं है। वह तो कृतज्ञता की अत्यंत निगूढ़ भाव-दशा है। और जहां भाव की प्रगाढ़ता है, वहां शब्द कहां।
प्रार्थना वाणी नहीं, मौन है। वह शून्य में समर्पण है। वह शब्द नहीं, शून्य का संगीत है। ध्वनियां जहां समाप्त होती हैं, वहीं संगीत प्रारंभ होता है। प्रार्थना पूजा नहीं है, और न ही प्रार्थना के कोई पूजागृह हैं। उसका बाहर से कोई संबंध नहीं। पर से उसका कोई नाता ही नहीं। वह तो स्वयं का ही अंतरतम जागरण है।
प्रार्थना क्रिया नहीं, चेतना है। वह करना नहीं, होना है।
प्रार्थना के लिए तो बस प्रेम का आविर्भाव ही चाहिए। उसके लिए परमात्मा की कल्पना भी अनावश्यक ही नहीं, बाधक भी है। जहां प्रार्थना है, वहां परमात्मा है। किंतु जहां परमात्मा की कल्पना है, वहां उस कल्पना के कारण ही परमात्मा उपस्थित होने में असमर्थ हो जाता है।

सत्य एक है। परमात्मा एक है। किंतु असत्य अनेक हैं, कल्पनाएं अनेक हैं, और इसलिए मंदिर अनेक हैं। इसीलिए तो मंदिर परमात्मा तक पहुंचने के लिए द्वार नहीं, दीवार ही बन जाते हैं।
प्रेम में ही जिसने परमात्मा का मंदिर नहीं पाया, उसे किसी भी मंदिर में परमात्मा नहीं मिल सकता है।
और प्रेम क्या है? क्या वह परमात्मा के प्रति आसक्ति है? आसक्ति प्रेम नहीं है। जहां आसक्ति है, वहां शोषण है। आसक्ति में दूसरा है साधन, साध्य है स्वयं। और प्रेम में तो वस्तुतः दूसरा है ही नहीं। किसी के प्रति का संबंध, अहं-संबंध है। और जहां अहंकार है, वहां परमात्मा कहां है? बस प्रेम है। वह किसी के प्रति नहीं है, वह तो बस है। प्रेम जहां किसी के प्रति है, वहां वह मोह है, आसक्ति है, वासना है। प्रेम जब बस है, तब वह वासना नहीं, प्रार्थना है। वासना सागर की ओर बहती नदियों की भांति है। प्रेम सागर की भांति है। वह किसी के प्रति बहाव नहीं है। वह तो स्वयं है। वह किसी के प्रति आकर्षण नहीं, वरन स्वयं में ही होना है, और सागर की भांति प्रेम ही प्रार्थना है। वासना बहाव है, खिंचाव है, तनाव है। प्रार्थना स्थिति है। प्रार्थना स्वयं में विश्रांति है।
प्रेम अपनी पूर्णता में अकारण, अलक्ष्य और अप्रेरित स्फुरण है।
मैं ऐसे ही प्रेम को प्रार्थना कहता हूं।
अन्यथा, हमारी सब प्रार्थनाएं असत्य हैं, आत्मवंचनाएं हैं।
एक कारागृह में फांसी की सजा हुए किसी बंदी का आगमन हुआ था। शीघ्र ही उसकी प्रभु-भक्ति से सारा बंदीगृह गूंज उठा था। भोर के पूर्व ही उसकी पूजा और प्रार्थना प्रारंभ हो जाती थी। प्रभु के प्रति उसका प्रेम असीम था। प्रार्थना के साथ ही साथ उसकी आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बहती रहती थी। प्रभु-प्रेम से उपजे विरह की हार्दिकता तो उसके गीतों के शब्द-शब्द में थी। वह भगवान का भक्त था और बंदीजन उसके भक्त हो गए थे। कारागृह-अधिपति और अन्य अधिकारी भी उसका समादर करने लगे थे। उसके प्रभु-स्मरण का क्रम तो करीब-करीब अहर्निश ही चलता था। उठते-बैठते-चलते भी उसके ओंठ राम का नाम लेते रहते थे। हाथ में माला के गुरिए घूमते रहते थे। उसकी चादर पर भी राम ही राम लिखा हुआ था। कारागृह-अधिपति जब भी निरीक्षण को आते थे, तभी उसे साधना में लीन पाते थे। लेकिन एक दिन जब वे आए तो उन्होंने पाया कि काफी दिन चढ़ आया है और वह बंदी निशिं्चत सोया हुआ है। उसकी राम-नाम की चादर और माला भी उपेक्षित सी एक कोने में पडी है। अधिपति ने सोचा शायद स्वास्थ्य ठीक नहीं है। किंतु अन्य बंदियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्वास्थ्य तो ठीक है, लेकिन प्रभु-स्मरण कल संध्या से ही न मालूम क्यों बंद है। अधिपति ने कैदी को उठाया और पूछाः "देर हुई, ब्रह्ममुहूर्त निकल गया है। क्या आज भोर की पूजा-प्रार्थना नहीं करनी है?" वह बंदी बोलाः "पूजा-प्रार्थना? अब कैसी पूजा और कैसी प्रार्थना? घर से कल ही पत्र मिला है कि फांसी की सजा सात वर्ष के कारावास में परिणत हो गई है। भगवान से जो काम कराना चाहता था, वह पूरा हो गया है। उस बेचारे को अब व्यर्थ ही और तकलीफ देनी उचित नहीं है।"

अहंकार का भार

मनुष्य को परमात्मा तक पहुंचने से कौन रोकता है? और मनुष्य को पृथ्वी
से कौन बांधे रखता है? वह शक्ति कौन सी है जो उसकी जीवन-सरिता को सत्ता के सागर तक नहीं पहुंचने देती है?
मैं कहता हूंः मनुष्य स्वयं। उसके अहंकार का भार ही उसे ऊपर नहीं उठने देता है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण नहीं, अहंकार का पाषाणभार ही हमें ऊपर नहीं उठने देता है। हम अपने ही भार से दबे हैं, और गति में असमर्थ हो गए हैं। पृथ्वी का वश देह के आगे नहीं है। उसका गुरुत्वाकर्षण देह को बांधे हुए है। किंतु अहंकार ने आत्मा को भी पृथ्वी से बांध दिया है। उसका भार ही परमात्मा तक उठने की असमर्थता और अशक्ति बन गया है। देह तो पृथ्वी की है।

वह तो उससे ही जन्मी है और उसमें ही उसे लीन हो जाना है। लेकिन आत्मा अहंकार के कारण परमात्मा से वंचित हो, व्यर्थ ही देहानुसरण को विवश हो जाती है।
और यदि आत्मा परमात्मा तक न पहुंच सके, तो जीवन एक असह्य पीडा में परिणत हो जाता है। परमात्मा ही उसका विकास है। वही उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है। और जहां विकास में बाधा है, वहीं दुख है। जहां स्वयं की संभावनाओं के सत्य बनने में अवरोध है, वहीं पीडा है। क्योंकि स्वयं की पूर्ण अभिव्यक्ति ही आनंद है।
वह देखते हो? उस दीये को देखते हो? मिट्टी का मत्र्य दीया है, लेकिन ज्योति तो अमृत की है। दीया पृथ्वी का--ज्योति तो आकाश की है। जो पृथ्वी का है, वह पृथ्वी पर ठहरा है, लेकिन ज्योति तो सतत अज्ञात आकाश की ओर भागी जा रही है। ऐसे ही मिट्टी की देह है मनुष्य की, किंतुु आत्मा तो मिट्टी की नहीं है। वह तो मत्र्य दीप नहीं, अमृत ज्योति है। किंतु अहंकार के कारण वह भी पृथ्वी से नहीं उठ पाती है।
परमात्मा की ओर केवल वे ही गति कर पाते हैं, जो सब भांति स्वयं से निर्भार हो जाते हैं।
एक कथा मैंने सुनी हैः
एक अति दुर्गम और ऊंचे पर्वत पर परमात्मा का स्वर्ण मंदिर था। उसका पुजारी बू.ढा हो गया था और उसने घोषणा की थी कि मनुष्य-जाति में जो सर्वाधिक बलशाली होगा, वही नये पुजारी की जगह नियुक्त हो सकेगा। इस पद से बडा और कोई सौभाग्य नहीं था। निश्चित तिथि पर बलशाली उम्मीदवारों ने पर्वतारोहण प्रारंभ किया। जो सबसे पहले पर्वत-शिखर पर स्थित मंदिर में पहुंच जाएगा, निश्चय ही वही सर्वाधिक बलशाली सिद्ध हो जाएगा। आरोहण पर निकलते समय प्रत्येक प्रतियोगी ने अपने बल का द्योतक एक-एक पत्थर अपने कंधे पर ले रखा था। जो जितना बलशाली स्वयं को समझता था, उसने उतना ही बडा पत्थर अपने कंधे पर उठा रक्खा था। महीनों की अति कठिन च.ढाई थी। अनेक के प्राणों के जाने का भी भय था। शायद इसलिए आकर्षण भी था और चुनौती भी थी। सैकडों लोग अपने-अपने भाग्य और पुरुषार्थ की परीक्षा के लिए निकल पडे थे। जैसे-जैसे दिन बीतते गए, अनेक आरोही पिछडते गए। कुछ खाई-खड्डों में अपने पत्थरों को लिए संसार से कूच कर गए। फिर भी थके और क्लांत जो शेष थे, वे अदम्य लालसा से ब.ढे जाते थे। जो गिरते जाते थे, उनके संबंध में चलनेवालों को विचार करने के लिए न समय था, न सुविधा थी। लेकिन एक दिन सभी आरोहियों ने आश्चर्य से देखा कि जो व्यक्ति सबसे पीछे रह गया था, वही तेजी से सबके आगे निकलता जा रहा है। उसके कंधे पर बल का द्योतक कोई भार नहीं था। निश्चय ही यही भारहीनता उसकी तीव्र गति बन गई थी। उसने अपने पत्थर को कहीं फेंक दिया था। वे सब उसकी मूढ़ता देख हंसने लगे थे, क्योंकि अपने पौरुषचिह्न से रहित व्यक्ति के पर्वत-शिखर पर पहुंचने का अभिप्राय ही क्या हो सकता था?
फिर जब महीनों की कष्ट-साध्य च.ढाई के बाद धीरे-धीरे सभी पर्वतारोही परमात्मा के मंदिर तक पहुंच गए तो उन्हें यह जान कर अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका वही स्वल्प-सामथ्र्य साथी जो अपना पौरुषभार फेंक कर सबसे पहले मंदिर पर पहुंच गया था, नया पुजारी बना दिया गया है! लेकिन इसके पहले कि वे इस अन्याय की शिकायत करें, पुराने पुजारी ने उन सबका स्वागत करते हुए कहाः "परमात्मा के मंदिर में प्रवेश का अधिकारी केवल वही है, जो स्वयं के अहंकार के भार से मुक्त हो गया है। इस युवक ने एक सर्वथा नवीन बल का परिचय दिया है। अहंकार का पाषाणभार वास्तविक बल नहीं है। और मैं आप सबसे सविनय पूछता हूं कि पर्वतारोहण के पूर्व इन पत्थरों को कंधों पर ढोने की सलाह आपको किसने दी थी और कब दी थी?"